धारणा क्रमांक १

उध्र्वे प्राणो हयधोजीवो विसर्गात्मा परोच्चरेत्।

उत्पत्तिद्वितयस्थाने, भरणाद्भरिता स्थितिः॥२४॥

भैरव कहते हैं:- सर्वोच्च शक्ति परादेवी जो विसर्ग रूप है, स्वयं को व्यक्त करते हुए उर्ध्वगति करती है, जो प्राण रूप में शरीर के मध्य से द्वादशान्त तक बाहर निकलने वाली श्वास तथा अपान या जीव रूप में द्वादशान्त से अधोगति करते हुए हृदय तक चलती है। मन को इन दो बिन्दुओं- शरीर के मध्य में प्राण एवं द्वादशान्त में अपान - पर जागरूकता पूर्वक स्थिर करने (भरणात् = एकाग्रता पूर्वक ध्यान करने से) से भरिता स्थिति (पूर्णता की स्थिति) होती है।

टिप्पणियां :- **विसर्गात्मा** याने जो विसर्ग रूप है। शब्द विसर्ग का मतलब है रचना, प्रक्षेपण, विकसित होने के लिए छोड़ देना अर्थात जो रचनात्मक है। दिव्य सत्ता की रचनात्मक क्रिया में दो गतियाँ होती हैं, एक बहिर्गति (अपकेंद्री centrifugal) तथा एक अंतर्गति (केंद्राभिमुख centripetal)। जीवों में केंद्राभिमुख गति प्रश्वास (inhalation) तथा अपकेंद्री गति निःश्वास (exhalation) है । पराशक्ति को विसर्गात्मा कहा जाता है क्योंकि वह इन दो दिशाओं में होने वाली गति के द्वारा जीवन का खेल सम्पन्न करती है, चाहे यह खेल विशाल ब्रह्माण्ड में हो चाहे सूक्ष्मतम संसार में हो। यह गति उच्चार या स्पंदन कही जाती है। यही परादेवी की ब्रह्मांडीय धड़कन है ।

संस्कृत में विसर्ग दो बिन्दुओं के द्वारा प्रदर्शित होता है जो एक के ऊपर एक होते हैं । एक बिंदु द्वादशान्त है जहाँ प्राण समाप्त होता है तथा दूसरा हृदय या शरीर का केंद्र है जहाँ अपान समाप्त होता है । इन्ही दो बिन्दुओं के कारण पराशक्ति विसर्गात्मा कहलाती है ।

द्वादशान्त का शाब्दिक मतलब है बारह उँगलियों की दूरी पर। यह वह बिंदु बतलाता है जहाँ, बाह्य अंतरिक्ष में नाक से बारह उँगलियों की दूरी पर, निःश्वास जो हृदय से उठता है, समाप्त होता है । इसे बाह्य द्वादशान्त भी कहते है। द्वादशान्त के और भी अर्थ हैं जो सन्दर्भ आने पर विस्तार से बताएं जायेंगे।

अपान प्रश्वास (inhalation) को कहते हैं। इसे ही जीव भी कहते हैं क्योंकि यही जीवन के लिए आधार है।

भरणात् का यहाँ मतलब है बारीकी से निरिक्षण या एक बिंदु पर जागरूकता। जागरूकता किसकी? इस पर शिवोपाध्याय अपनी व्याख्या में लिखतें हैं - भरणात् का यहाँ मतलब है- भैरव की शक्ति की नित्योदित आरंभिक कौंध पर सक्रिय ध्यान।

इस छंद में वर्णित धारणा इस तरह है :- दो बिंदु हैं जिनके बीच श्वास सतत चलता है। एक बिंदु है शरीर के केंद्र में हृदय जहाँ प्रश्वास या अपान समाप्त होता है, दूसरा बिंदु बाह्य द्वादशान्त है जहाँ निःश्वास या प्राण समाप्त होता है। इनमे से प्रत्येक बिंदु पर विश्रांति होती है जो मात्र क्षण भर के लिए ठहरती है। श्वास यहाँ रूकती नहीं वरन शक्ति के स्पंद की तरह ठहरी हुई जीवनी शक्ति होती है तथा इसके बाद पुनः श्वास क्रिया आरम्भ हो जाती है। यहाँ साधक को इस विश्रांति के क्षण पर ध्यान केन्द्रित करना होता है तथा श्वास आरम्भ होने पर भी इस बिंदु के प्रति जागरूक रहना होता है। इस धारणा के सतत प्रयास से उसे भैरव स्थिति का बोध हो जाता है। चूँकि यह धारणाविधि विकल्पहीन है अतः शाम्भवोपाय के अंतर्गत है।

इस धारणा की एक और महत्वपूर्ण व्याख्या है:- प्रश्वास में "ह" का उच्चारण स्वतः होता है अर्थात "ह" की ध्वनि होती है, एवं निःश्वास में "सः" की ध्वनि होती है, दोनों के संधि स्थान पर "म्" (ं) की ध्वनि जुड़ जाती है और मंत्र "हंसः" की रचना होती है। परादेवी यह मंत्र सतत जपती है जो सभी जीवों में चलता है।

हृदय या केंद्र "सः" की ध्वनि का आरंभिक बिंदु है तथा द्वादशान्त "ह" की ध्वनि का आरंभिक बिंदु है। दोनों बिन्दुओं पर ध्यान करने से साधक भैरव भाव ग्रहण करता है। यह आणवोपाय है। "सः" शिव का प्रतिनिधि है, "ह" शक्ति का प्रतीक है तथा "म्" नर का प्रतीक है। इस तरह इस साधना में त्रिक दर्शन के तीनो तत्व शिव-शक्ति-नर समाहित हैं।

धारणा क्रमांक २

मरुतोऽन्तर्बहिर्वापि वियद्युग्मानिवर्तनात् ।

भैरव्या भैरवस्येत्थं भैरवि व्यज्यते वपुः॥२५॥

हृदय से उठने वाले प्राण के लिए द्वादशान्त पर क्षण भर के लिए विश्राम है और द्वादशान्त से उठने वाले अपान के लिए हृदय में क्षण भर का विश्राम है। यदि व्यक्ति इन दोनों विश्रांति स्थलों पर दृढ़ता से मन को स्थिर कर ले तो इन बिंदुओं पर भैरवी जो भैरव का स्वाभाव है, प्रकट हो जाती है।

टिप्पणियां :- १. प्राण का द्वादशान्त में विश्राम बाह्य कुम्भक कहलाता है। अपान का शरीर के केंद्र में विश्राम अन्तःकुम्भक कहलाता है। अनुसंधान द्वारा याने दोनों विश्राम बिंदुओं पर जागरूकता पूर्वक एकाग्र होने से मन अन्तर्मुखी हो जाता है एवं प्राण तथा अपान की क्रियाएँ थम जाती हैं। ऐसे में मध्यदशा विकसित होने लगती है अर्थात सुषुम्ना का पथ खुल जाता है।

२. अगर कोई इन दो बिंदुओं पर भीतरी दृष्टि से निरीक्षण करे तो उसे भैरव अवस्था का अनुभव होने लगता है। दोनों विश्रामों पर ध्यान करना आणवोपाय है।

धारणा क्रमांक ३

न व्रजेन्न विशेच्छक्तिर्मरुद्रूपा विकासिते।

निर्विकल्पतया मध्ये तया भैरवरूपता॥२६॥

जब द्वैतपरक विचारों के लय द्वारा मध्यविकास होता है तब प्राणशक्ति हृदय से बाहर नहीं जाती, न ही अपान का द्वादशान्त से उदय होता है। इस तरह भैरवी जो प्राण-अपान के थमने के रूप में स्वयं को प्रकट करती है, उसके द्वारा भैरव स्थिति प्राप्त होती है।

टिप्पणियां :- १. इस धारणा में प्राण एवं अपान की गति रुक जाती है तथा मध्यदशा विकसित हो जाती है अर्थात सुषुम्ना में प्राणशक्ति निर्विकल्प भाव से विकसित होती है तब भैरव का स्वाभाव प्रकट हो जता है।

शिवोपाध्याय उनकी व्याख्या में कहते हैं कि निर्विकल्प भाव भैरवी मुद्रा से आता है जिसमे इन्द्रियां जब बाहर की और उन्मुख हों तब भी ध्यान केन्द्रोंमुख होता है। केंद्र में रचनात्मक स्पंद जो सारी मन एवं इन्द्रियों की गतिविधियों का आधार है, लक्षित होता है। इस स्थिति में सारे विकल्प लय हो जाते हैं,श्वास न तो बाहर जाती है न ही भीतर आती है और भैरव का स्वरूप उजागर हो जाता है।

२. नासाग्र से बाहर बारह उँगलियों की दूरी पर बाहरी अंतरिक्ष में जो स्थान है उसे द्वादशान्त कहते हैं।

३. पूर्ववर्ती धरणा एवं वर्तमान धारणा में यह अंतर है कि पूर्ववर्ती धारणा में मध्यदशा का विकास बाह्य एवं अन्तःकुम्भक पर एकाग्रतापूर्वक ध्यान करने से होता है जबकि वर्तमान धारणा में मध्यविकास निर्विकल्प भाव से होता है।

तन्त्रालोक में अभिनवगुप्त ने यह धारणा बतलाई है (5/22 p 333) वहां भी उन्होंने निर्विकल्प भाव पर जोर दिया है। वे कहते हैं कि व्यक्ति को अपना मन तीव्र जागरूकतापूर्वक प्राण, अपान एवं उदान के संधिस्थान पर केन्द्रित करना चाहए तब प्राण एवं अपान निलंबित हो जाते हैं तथा मन सारे विकल्पों से मुक्त हो जाता है। मध्यदशा विकसित हो जाती है तथा साधक को स्वयं की आत्मा का अनुभव हो जाता है जो भैरव का स्वाभाव है। शिवोपाध्याय कहते हैं कि चूंकि यह धारणा मध्यदशा का सहारा लेती है, इसे आणवोपाय माना जा सकता है। लेकिन मध्यविकास निर्विकल्प भाव से होता है अतः इस दृष्टी से यह शाम्भवोपाय है।

धारणा क्रमांक ४

कुम्भिता रेचिता वापि पूरिता या यदा भवेत्।

तदन्ते शान्तनामासौ शक्त्या शान्तः प्रकाशते॥२७॥

जब शक्ति रेचिता के रूप में बाह्य द्वादशान्त में रोक ली जाती है और पूरिता के रूप में भीतर (हृदय के केंद्र में) रोक ली जाती है, तब इस अभ्यास के अंत में शक्ति शान्ता के नाम से जानी जाती है, जिसके द्वारा भैरव प्रकट होता है।

टिप्पणियां:- १. कुम्भक के सतत अभ्यास के द्वारा अर्थात श्वास को हृदय अथवा द्वादशान्त में रोकने के अभ्यास द्वारा शारीरिक एवं मानसिक शान्ति का अनुभव होता है एवं मध्यदशा विकसित हो जाती है। २. प्राण अपान के भेद के लुप्त हो जाने के कारण शक्ति शांता कहलाती है, यहाँ इसका अर्थ है- जो रुक गयी है या शांत हो गयी है। ३. भैरव (दिव्या आत्मा) शांत कहलाता है क्योंकि वह नाम एवं रूप को अतिक्रांत कर जाता है एवं उसमे द्वैत का लेशमात्र भी नहीं होता। यह धारणा आणवोपाय का एक प्रकार है।

धारणा क्रमांक ५

आ मूलात्किरणाभासां सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरात्मिकाम्।

चिन्तयेत्तां द्विषट्कान्ते शाम्यन्तीं भैरवोदयः॥२८॥

उस शक्ति पर ध्यान करो जो मूलाधार चक्र से चमचमाती सूर्य किरणों की तरह ऊपर उठती है तथा सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती जाती है और अंत में द्वादशान्त पर विलीन हो जाती है। इस तरह भैरव स्वभाव प्रकट हो जाता है।

टिप्पणियां:- १. यहाँ शक्ति से तात्पर्य प्राणशक्ति से है जो प्राण कुण्डलिनी के रूप में मूलाधार में साड़े तीन चक्रों में मुड़ी हुई सर्प की तरह पड़ी रहती है।

२. मूलाधार चक्र मेरुदंड के क्षेत्र में जननांगों के नीचे स्थित होता है। शरीर के भीतर प्राणमय कोश में प्राणिक उर्जा के केंद्र को चक्र कहते हैं। इस धारणा में कुण्डलिनी तड़ित की तरह ऊपर उठती है एवं द्वादशान्त अथवा ब्रह्मरंध्र में विलीन हो जाती है। यह चित् कुण्डलिनी या अक्रम कुण्डलिनी कहलाती है। क्योंकि यह क्रमशः चक्रों को नहीं भेदती वरन सीधे ही ब्रह्मरन्ध्र पहुँच जाती है।

३. द्विषट्कान्ते (दो बार छः) याने द्वादशान्त, लेकिन यहाँ इसका मतलब है ब्रह्मरन्ध्र जो भ्रूमध्य (दो आँखों के बीच की जगह) से बारह उँगलियों की दूरी पर होता है।

४. द्वादशान्त या ब्रह्मरन्ध्र पर कुण्डलिनी चेतना के प्रकाश में विलीन हो जाती है। इसी प्रकाश में भैरव का स्वरुप उजागर होता है।

चूंकि यह धारणा प्राणशक्ति की भावना पर निर्भर है इसे आणवोपाय के अंतर्गत माना जाता है हालाकि नेत्रतंत्र इसे शाम्भावोपाय मानता है।

धारणा क्रमांक ६.

उद्गच्छन्तीं तडिद्रूपां प्रतिचक्रं क्रमात्क्रमम्।

ऊर्ध्वं मुष्टित्रयं यावत् तावदन्ते महोदयः॥२९॥

उस तड़ित रुपी शक्ति (कुण्डलिनी) पर ध्यान करो जो क्रमशः एक से दूसरे शक्ति चक्रों पर उठते हुए तीन मुष्टि ऊपर (ब्रह्मरंध्र) पर पहुँचती है। अंततः भैरव का महान अनुभव उदित होता है।

टिप्पणियां :- १. यहाँ द्वादशान्त का मतलब ब्रह्मरंध्र से भी है।

२. कुण्डलिनी मूलाधार से उठकर उर्जाचक्रों को भेदते हुए अंततः ब्रह्मरंध्र में विलीन हो जाती है। यह पराकुण्डलिनी कहलाती है। पिछली धारणा एवं वर्तमान धारणा में यह अंतर है कि यहाँ कुण्डलिनी एक एक कर चक्रों को भेदती है, जबकि पिछली धारणा में मूलाधार से उठने वाली कुण्डलिनी विद्युत् की गति से ब्रह्मरंध्र पर पहुँच कर विलीन हो जाती है। वहां एक एक कर चक्रभेदन नहीं है।

तन्त्रालोक पर जयरथ की व्याक्ख्या में इसे शाक्तोपाय कहा गया है।

धारणा क्रमांक ७.

क्रमद्वादशकं सम्यग् द्वादशाक्षरभेदितम्।

स्थूलसूक्ष्मपरस्थित्या मुक्त्वा मुक्त्वान्ततः शिवः॥३०॥

बारह क्रमबद्ध अक्षरों से सम्बंधित क्रमबद्ध उच्चतर उर्जा केन्द्रों पर ध्यान करना चाहिए। पहले प्रत्येक पर स्थूल रूप से ध्यान करना चाहिए, तदन्तर स्थूल रूप छोड़ कर सुक्ष्म तथा अंततः सर्वोच्च पर ध्यान करना चाहिए। इस तरह अंततः शिवात्म अनुभव प्राप्त होता है।

टिप्पणियां:- क्रमबद्ध १२ उच्च ऊर्जा केंद्र (क्रम द्वादशकं) इस तरह है :- १. जन्माग्र २. मूल ३. कंद ४. नाभि ५. हृदय ६. कंठ ७. तालु ८. भ्रूमध्य ९. ललाट १०. ब्रह्मरंध्र ११. शक्ति तथा १२. व्यापिनी। ये द्वादशस्थान कहलाते हैं। ये उठने वाली कुण्डलिनी के क्रमशः स्तर हैं। ये बारह स्वरों से सम्बंधित हैं। प्रथम चार स्तर अपर हैं अतः भेदप्रधान हैं:-

१. जन्माग्र - यह जननांगों के स्तर पर होता है। चूँकि जननांग का सम्बन्ध व्यक्ति के जन्म से होता है, अतः इस स्तर का उर्जा केंद्र जन्माग्र (जननांगों का अग्रभाग) अथवा जन्माधार कहलाता है। २. मूल या मूलाधार - यह मेरुदंड का सबसे नीचला केंद्र जननांगों के नीचे होता है। ३. कंद - (Sacral Plexus) यह एक गांठ की तरह होता है जहाँ कई नाड़ियां आ कर मिली होती हैं। ४. नाभि :-इस स्तर पर मणिपूरक चक्र स्थित होता है।

इसके बाद अगले पांच केंद्र सूक्ष्मतर उर्जा केंद्र हैं जो परापर या भेदाभेद का स्तर है:-

५. हृदय ६. कंठ - गले के आधार पर स्थित गुहा ७. तालू - मुख गुहा का उपरी भाग ८. भ्रूमध्य - भौंहों के बीच का केंद्र ९. ललाट।

अगले तीन स्तर परा या अभेद रूप हैं।

१०. ब्रह्मरंध्र - कपाल का सर्वोच्च स्थान ११. शक्ति - शुद्ध शक्ति जो शरीर का हिस्सा नहीं है। १२. व्यापिनी - कुण्डलिनी की यात्रा पूर्ण होने पर प्रकट होने वाली शक्ति।

बारह क्रमबद्ध अक्षर बारह स्वर हैं -

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अ:

उक्त स्तरों पर क्रमशः इन बारह स्वरों का ध्यान करना होता है। आरंभिक स्थूल ध्यान आणवोपाय के अंतर्गत है तथा सुक्ष्म तथा उच्चतम ध्यान शाक्तोपाय के अंतर्गत है।

धारणा क्रमांक ८

तयापूर्याशु मूर्धान्तं भंक्त्वा भ्रूक्षेपसेतुना।

निर्विकल्पं मनः कृत्वा सर्वोर्ध्वे सर्वगोद्गमः॥३१॥

मूर्धान्त को प्राणिक शक्ति द्वारा तेजी से भर कर तथा भौहों के सेतुतुल्य संकुचन के द्वारा इसे (मूर्धान्त को) पार कर ले। अब साधक को चाहिए कि द्वैतपरक विचार त्याग कर मन को निर्विकल्प कर ले। तब साधक की चेतना द्वादशान्त से भी ऊपर उठ कर योगी को सर्वव्यापकता का अनुभव देती है।

टिप्पणियां:- १. मूर्धान्त का यहाँ मतलब ब्रह्मरंध्र से है। यह भ्रूमध्य से बारह उँगलियों की दूरी तक का अंतरिक्ष है। २. जैसे एक नदी सेतु के सहारे पार की जाती है वैसे ही प्राणिक शक्ति को भी भ्रूक्षेप की गूढ़ विधि से पार करना होता है। तब प्राण शक्ति चित्शक्ति में बदल जाती है तथा साधक की चेतना ब्रह्मरंध्र से ऊपर उठ कर उसे सर्वव्यापकत्व का अनुभव देती है। भ्रूक्षेप की गूढ़विधि रहस्यवादियों द्वारा पीड़ियों तक गोपनीय रखी गयी एवं अब खो गयी है, परशिव की इच्छा से किसी योगी की चेतना में यह कभी पुनः प्रकट होगी। यह शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक ९

शिखिपक्षेश्चित्ररूपेर्मण्डलै: शून्यपञ्चकम्।

ध्यायतोऽनुत्तरे शून्ये प्रवेशो हृदये भवेत्॥३२॥

योगी ने अपने हृदय में पांच शून्यों (शून्यपञ्चकम्) पर ध्यान करना चाहिए। ये पांच शून्य पांच ज्ञानेन्द्रियों के हैं जो मोरपंख पर मण्डलों के मध्य छिद्र के रूप में होते हैं। इस तरह योगी निरपेक्ष शून्य (शिव) में विलीन हो जाता है।

टिप्पणियां :- १. शून्यपञ्चकम् का मतलब है कि योगी को पांच इन्द्रियों के मूल स्रोत तन्मात्राओं पर ध्यान करना चाहिए। बिना अन्य आधार के शब्द स्पर्श रूप रस गंध पर ध्यान याने स्पर्श यथारूप, रस यथारूप इत्यादि। यहाँ हमारी सामान्य क्रिया यह होती है कि जब स्पर्श के बारे में सोचते हैं तो चमड़ी के सन्दर्भ में ही सोचते हैं, रूप के बारे में सोचते हैं तो नेत्र के सापेक्ष ही सोचते हैं। लेकिन यहाँ शुद्ध तन्मात्रा पर ही ध्यान करना है जो शून्यरूप है क्योंकि उनकी ठोस विधायक सत्ता प्रतीत नहीं होती।

शून्यपञ्चकम् के दो मतलब हैं :- जैसे मोरपंख में दिखने वाले मण्डलों में ५ छिद्र होते हैं, एक ऊपर, एक नीचे, एक बीच में तथा दो आजू बाजू, उसी तरह योगी पञ्चतन्मात्राओं पर पांच शून्यों की तरह ध्यान करता है।

२. मण्डल शब्द के भी दो अर्थ हैं। मोरपंख में मण्डल चक्रीय संरचनाएं हैं, योगी के सन्दर्भ में मंडल का मतलब ज्ञानेन्द्रियों से है। "मण्डल रससारं लान्ति इति मण्डलानि" - जो तन्मात्राओं के सार की वाहक हैं (याने ज्ञानेन्द्रियाँ) वे मण्डल हैं।

३. निरपेक्ष शून्य भैरव है जो मन एवं इन्द्रियों से परे है, जो सभी साधनों से परे है, मानव मन की दृष्टि से वह एकदम शून्य है, परमार्थ की दृष्टि से वह परिपूर्ण है क्योंकि वह सारी प्रकट सृष्टि (अभिव्यक्ति) का आरंभिक स्रोत है।

धारणा क्रमांक १०

ईदृशेन क्रमेणैव यत्र कुत्रापि चिन्तना।

शून्ये कुड्ये परे पात्रे स्वयं लीना वरप्रदा॥३३॥

इस तरह क्रमशः जहाँ कहीं भी चिंतन होता है, चाहे शून्य पर, किसी दीवार पर या किसी सद्पुरुष पर, वह चिंतन सर्वोच्च में लीन हो कर वरप्रद होता है याने सर्वोच्च का अनुभव देता है।

टिप्पणियां :- १. जैसे क्रमबद्ध ध्यान विभिन्न स्तरों पर स्वयं के शरीर में होता है (मूलाधार, जन्म, कंद, नाभि, हृदय, कंठ, तालू, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरंध्र, शक्ति तथा व्यापिनी) उसी तरह क्रमबद्ध ध्यान का शरीर के बाहर भी अभ्यास किया जा सकता है, जैसे ऊँची दीवार, गहन अंतरिक्ष इत्यादि। २. परेपात्रे -

पात्र का मतलब योग्य व्यक्ति से है। परेपात्रे से तात्पर्य किसी अतिउत्कृष्ट व्यक्ति से है, जैसे शुद्ध मन वाला समर्थ शिष्य आदि। ३. सर्वोच्च आध्यात्मिक अनुभव को ही यहाँ वरप्रद कहा गया है यह धारणा आणवोपाय से आरम्भ हो कर शाक्तोपाय में विलीन हो जाती है।

धारणा क्रमांक ११

कपालान्तर्मनो न्यस्य तिष्ठन्मीलितलोचनः।

क्रमेण मनसो दार्ढ्यात् लक्ष्येल्लक्ष्यमुत्तमम्॥३४॥

अपना ध्यान स्वयं की खोपड़ी के भीतर स्थिर करने तथा स्थिरचित्तता से आंखें बंद करने से जो जानने योग्य है वह बहुत अच्छे से जान लिया जाता है।

कपाल का मतलब खोपड़ी (Cranium) से है लेकिन इसका एक गुह्य मतलब भी है। इस बारे में शिवोपाध्याय तन्त्रालोक के एक छंद का उल्लेख करते हैं :-

कशब्देन पराशक्तिः पालकः शिवसंज्ञया।

शिव-शक्ति-समायोगः कपालः परिपठ्यते।।

शब्द "क" पराशक्ति का प्रतीक है। शब्द "पाल" जिसका शाब्दिक मतलब रक्षक है, यहाँ शिव के लिए प्रयुक्त हुआ है। पूरे शब्द कपाल का तात्पर्य शिव एवं शक्ति के सायुज्य से है। शिव एवं शक्ति दूसरे शब्दों में प्रकाश एवं विमर्श हैं अर्थात चेतना एवं उसकी जागरूकता। इस तरह छंद का अनुवाद ऐसा होगा - "स्थिरचित्तता से अंतर्मुखी हो कर शिव-शक्ति सायुज्य का ध्यान करते हुए नेत्र बंद करने से धीरे धीरे मन शांत होने पर जो सर्वोच्च ज्ञातव्य है वह जान लिया जाता है।"

टिप्पणियां:- १. 'कपाल के भीतर ध्यान' का मतलब है उस प्रकाश पर ध्यान जो सदा उपस्थित है। २. आंखें बंद करने का मतलब है बाहरी संसार से विमुख हो कर पूर्णतः अंतर्मुखी हो जाना। ३. आरम्भ में मन बहुत चंचल होता है लेकिन सतत अभ्यास द्वारा यह स्थिरता पा लेता है तब योगी एकाग्रता से ध्यान कर सकता है। ४. सर्वोच्च ज्ञातव्य शिव हैं जो सर्वोच्च अध्यात्मिक सत्य है। अभ्यास द्वारा भेददृष्टि धीरे धीरे समाप्त हो जाती है एवं सारी सृष्टि शिव का विस्तार दिखाई देने लगती है।

यह धारणा शाक्तोपाय के अंतर्गत आती है।

धारणा क्रमांक १२

मध्यनाड़ी मध्यसंस्था बिससूत्राभरूपया।

ध्यातान्तर्व्योमया देव्या तया देवः प्रकाशते॥३५॥

मध्यनाड़ी (सुषुम्ना) मध्य में स्थित होती है। यह कमल की डंडी की तरह पतली होती है। अगर योगी इसके भीतरी व्योम, याने मध्यनाड़ी के भीतर खाली स्थान पर ध्यान करे तो यह दिव्य को प्रकशित करने मे सहायता करता है।

टिप्पणियां :- १. यहाँ नाड़ी का मतलब प्राणिक सरणि (Channel) है, याने प्राण की वाहिका। २. प्राणशक्ति सुषुम्ना में रहती है, अगर कोई सुषुम्ना के भीतर स्थित व्योम पर ध्यान करता है तो प्राण एवं अपान के प्रवाह सुषुम्ना में विलीन हो जाते हैं तथा उदान का प्रवाह कार्यशील हो जाता है। इस तरह कुण्डलिनी उठने लगती है, सुषुम्ना में प्रवाहित होने लगती है, विभिन्न शक्तिचक्रों को भेदते हुए अंततः सहस्रार में विलीन हो जाती है। यहाँ योगी एक आध्यात्मिक प्रकाश को महसूस करता है जिससे उसका तादात्म्य हो जाता है। इस वक्तव्य का कि "सुषुम्ना में स्थित प्राण की सहायता से दिव्य प्रकट हो जाता है", यही मतलब है। यही विचार स्पन्दकारिका में भी व्यक्त है :-

तदातस्मिन् महाव्योम्नि प्रलीन शशिभास्करे।

सौषुप्तपदवनमूढाः प्रबुद्ध स्यादनाव्रतः॥ छंद २५॥

जब चन्द्र (प्राणिक ऊर्जा की अपान धारा) तथा सूर्य (प्राणिक ऊर्जा की प्राण धारा) सुषुम्ना में विलीन हो जाते हैं, तब योगी सुषुम्ना में प्रवेश कर जाता है। जो योगी योगिक सिद्धियों के लिए उत्सुक है, वह मानो गहरी नींद में होता है और स्वयं मूर्ख बन जाता है, लेकिन जिसकी ऐसी कामना नहीं होती वह जागरूक योगी आध्यात्मिक प्रकाश का अनुभव करता है। यह धारणा आणवोपाय से आरम्भ होती है तथा शाक्तोपाय में समाप्त होती है।

धारणा क्रामांक १३

कररुद्धदृगस्त्रेण भ्रूभेदाद् द्वाररोधनात्।

दृष्टे बिन्दौ क्रमाल्लीने तन्मध्ये परमास्थितिः॥३६॥

जब कररूपी अस्त्र से नेत्रों को (तथा चेहरे पर उपस्थित अन्य द्वारों को) अवरुद्ध कर दिया जाता है, तो भौहों के मध्य उपस्थित गांठ खुल जाती है और योगी को एक बिंदु प्रकट होता है। एकाग्र होने पर यह बिंदु विलीन हो जाता है और चेतना से एक हो जाता है, तब योगी सर्वोच्च स्थिति में स्थित हो जाता है।

टिप्पणियां :- १. कररुद्धदृगस्त्र एक करण है जो आणवोपाय में प्रयुक्त होता है। करण को इस तरह परिभाषित किया गया है :- "करणं देहसन्निवेश- विशेषात्मा मुद्रादिव्यापारः" शारीर के अंगों का विशेष तरह से प्रदर्शन मुद्रा कहलाता है, मुद्रा एक करण है। मुद्रा का आशय कुछ इन्द्रियों एवं अंगों का नियंत्रण है जो एकाग्रता में सहायता करता है। यहाँ करण हाथ है। हाथों की दस उँगलियाँ इस मुद्रा में उपयोग की जाती हैं। दोनों अंगूठों से कान बंद किये जाते हैं, तर्जनियों से आँखें बंद की जाती हैं, दो नासाछिद्रों को मध्यमा उँगलियों से बंद किया जाता है, अनामिका तथा कनिष्ठा उँगलियों से मुख को अवरुद्ध किया जाता है। इसी का मतलब है हस्तरूपी अस्त्र से इन्द्रियों के छिद्रों को अवरुद्ध करना। इस तरह समस्त इन्द्रियों के छिद्रों को रोकने से चेतना पर सारे बाहरी प्रभाव पड़ना बंद हो जाते हैं तथा प्राणशक्ति भीतर सीमित हो जाती है।

२. अब बाहरी प्रभावों से मुक्त प्राणशक्ति उठ कर दोनों भौहो के बीच की और बड़ती है तथा भ्रूमध्य पहुँच कर स्नायुओं की गांठ को खोल देती है जिसमे बहुत महत्वपूर्ण उर्जा कैद होती है।

३. जब भीतर से उठती हुई प्राणशक्ति के द्वारा भ्रूमध्य का भेदन होता है, एक तीव्र प्रकाश बिन्दु दिखाई देता है, इसे "बिंदु" या "विन्दु" कहते हैं।

४. जैसे ही बिंदु प्रकट होता है योगी को इस पर ध्यान करना चाहिए। जब ध्यान प्रगाढ़ होता है, बिंदु विलीन हो जाता है तथा चिदाकाश (Universal consciousness) में समा जाता है। इसे परमास्थिति कहते हैं जो योगी की सर्वोच्च अवस्था है।

इस धारणा में पांच स्तर हैं, (एक) - द्वाररोधनम् अर्थात इन्द्रियों के द्वारों को अवरुद्ध करना, (दो) - भ्रुभेदः याने द्वाररोधन से अन्दर कैद प्राणशक्ति ऊपर उठती है तथा भ्रूमध्य में स्थित स्नायु ग्रंथि को खोल देती है। (तीन) - बिंदुदर्शनम्, यहाँ भ्रुभेदन से वह प्रकाश बिंदु जो स्नायुग्रंथि में कैद था, मुक्त हो जाता है तथा योगी को मानसिक रूप से दिखाई देता है। (चार) - "क्रमात् एकाग्रताप्रकर्षात् लीने संविद्गगने" अर्थात जब बिंदु पर गहन ध्यान किया जाता है, यह धीमे धीमे मद्दिम होते हुए अंततः विलीन हो कर सर्वोच्च चेतना से एक हो जाता है। तथा (पांच) - "तन्मध्येयोगिनः परमास्थितिः भैरवाभिव्यक्तिः" - उस सर्वोच्च चेतना (चिदाकाश) में योगी सर्वोच्च स्थिति का बोध प्राप्त करता है अर्थात भैरव का स्वरुप प्रकट हो जाता है।

स्वामी लक्ष्मणजू कुछ भिन्न व्याख्या करते हैं, उनके अनुसार भ्रुभेदात का मतलब है, "भौहों के मध्य स्थित स्नायुओं की ग्रंथि को भेदने के बाद"। यह करने के लिए भ्रूमध्य पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। जब ऐसा संपन्न हो जाता है तब वहां एक प्रकाश बिंदु दिखाई देता है। ऐसा प्रकाश बिंदु प्रकट होने पर ज्ञानेन्द्रियों के द्वारों को बंद किया जाता है तब प्राणशक्ति सुषुम्ना में उठती है तथा ब्रह्मरंध्र की और बढती है जिससे प्रकाशबिंदु का विलीनीकरण तीव्र हो जाता है और वह प्रकाशबिंदु ब्रह्मरंध्र में समा जाता है। इस स्थिति में योगी को आत्मबोध हो जाता है। यह धारणा आणवोपाय से आरंभ हो कर शाक्तोपाय में समाप्त होती है।

धारणा क्रमांक १४

धामान्तः क्षोभसंभूतसूक्ष्माग्नितिलकाकृतिम्।

बिन्दुं शिखान्ते हृदये लयान्ते ध्यायतो लयः॥३७॥

धाम या तेज (आँखों में स्थित प्रकाश) पर दबाव डालने से तिलक के आकार का जो प्रकाश दिखाई पड़ता है, उस तिलकाकार बिंदु पर योगी हृदय अथवा द्वादशान्त पर ध्यान करता है। ऐसे अभ्यास से तर्कमूलक विचार (विकल्प) नष्ट हो जाते हैं जिससे योगी सर्वोच्च चेतना में विलीन हो जाता है।

टिप्पणियां :- १. शिखान्त का शाब्दिक मतलब सर पर स्थित चोटी का अंतिम छोर है। यहाँ तात्पर्य द्वादशान्त अथवा ब्रह्मरंध्र से है। २. तिलक याने माथे पर चन्दन का निशान जो देवता के प्रति भक्ति के प्रतिक की तरह हिन्दू लगते हैं। ३. जब आँखों पर दबाव डाला जाता है तो एक प्रकाश दिखाई देता है। योगी मानसिक रूप से उस बिंदु को पकड़ कर द्वादशान्त अथवा हृदय में स्थापित कर उस पर ध्यान करता है। इस ध्यान से विकल्प क्षय हो जाते हैं और योगी भैरव के स्वरूप में स्थापित हो जाता है।

यहाँ धाम का मतलब "आँखों में स्थित प्रकाश" है। धाम का अन्य मतलब "बुझते हुए दीपक की अंतिम किरणे" भी है। बुझता हुआ दीपक अपनी संसार यात्रा पूरी कर विश्व चैतन्य में विलीन होने जा रहा है, हम इसी तथ्य का सहारा लेते हैं और अपने चित्त को इस दीपक की लौ के सहारे विश्व चैतन्य में विलीन होने भेज देते हैं। यह धारणा आणवोपाय के अंतर्गत है।

धारणा क्रमांक १५

अनाहते पात्रकर्णेऽभग्नशब्दे सरिद्द्रुते।

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥३८॥

जो योगी नाद अथवा शब्दब्रह्म में निष्णात एवं ओतप्रोत हैं उनके योग द्वारा सक्षम हुए कर्ण ही उस अनाहत ध्वनि को, जो बिना किसी टकराहट के भीतर ही उत्पन्न होती है, सुन सकते है। यह नाद सतत सरिता की तरह बिना रुके चलता ही जाता है। ऐसा योगी ब्रह्म को प्राप्त होता है।

टिप्पणियाँ :- १. निष्णात शब्द के दो मतलब हैं एक प्रवीण या अनुभवी तथा दूसरा मतलब है अच्छी तरह डूबा हुआ या ओतप्रोत। २. अनाहत नाद का मतलब है बिना टकराहट के उत्पन्न ध्वनि जो बिना रुके सतत चलती जाती है। योग शास्त्रों में इस तरह के दस नाद वर्णित हैं जो सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते जाते हैं। यहाँ तात्पर्य सुषुम्ना में स्थित प्राणशक्ति में स्पंदित सूक्ष्मतम नाद से है। सृष्टि में प्राणशक्ति परशिव की पराशक्ति की प्रतिनिधि है। यह चेतना की सनातन शक्ति है, यह अध्यात्मिक स्पंद है।

जब कुण्डलिनी उठती है तो यह ध्वनि सुनाई देती है। योगी को इस ध्वनि पर ध्यान केन्द्रित करना होता है जो आरम्भ में घंटाध्वनि की तरह होती है तथा सूक्ष्मतर हो कर बांसुरी की तरह हो जाती है। क्रमशः सूक्ष्मतर होते हुए यह ध्वनि वीणावादन एवं तदन्तर मधुमक्खी की भिनभिनाहट की तरह हो जाती है। जब योगी इस नाद पर ध्यान केन्द्रित करता है, वह बाहरी संसार को भूल जाता है और धीमे धीमे आतंरिक नाद में खो जाता है। अंततः योगी चिदाकाश में समा जाता है। यही ब्रह्म को प्राप्त होना है। शैवागम के आणवोपाय में इस तरह के योग को "वर्ण" कहते हैं। नाथ परंपरा एवं कुछ उपनिषदों में इसे "नादानुसंधान" कहते हैं। संत कबीर एवं मध्यकालीन संत इसे ही "सुरति शब्द योग" कहते थे। ३. पात्रकर्णे का मतलब है कि यह नाद हरेक कान को नहीं सुनाई देता वरन वह कान जो गुरु के निर्देशों के आधीन इसे सुनने के लिए पात्र हो गया है, उसे ही सुनाई देता है। यह धारणा आणवोपाय के अंतर्गत है।

धारणा क्रमांक१६

प्रणवादिसमुच्चारात् प्लुतान्ते शून्यभावनात्।

शून्यया परया शक्त्या शून्यतामेति भैरवि॥३९॥

हे भैरवि, पवित्र शब्द ॐ आदि प्रणव के ठीक उच्चारण तथा उच्चारण के दीर्ध पहलू के अंत में शून्य पर ध्यान करने से शून्य की सर्वोत्कृष्ट शक्ति के द्वारा योगी शून्य को प्राप्त कर लेता है।

टिप्पणियां :- १. ॐ आदि से तात्पर्य यह है कि अन्य प्रणव भी इस हेतु योग्य हैं। मुख्यतः तीन प्रणव हैं - (एक) वैदिक प्रणव 'ॐ', (दो) शैव प्रणव 'हूं' तथा (तीन) शाक्त प्रणव 'ह्रीं' । २. प्लुत याने दीर्घ (Protracted) रूप में मंत्र का उच्चारण अऽऽऽ...उ....मऽऽऽ.... होता है, जैसे मुर्गे की बांग पहले संक्षिप्त होती है, तदन्तर लम्बी और अंत में दीर्घ हो जाती है, वैसे ही प्रणव के उच्चारण भी ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत

के रूप में होते हैं। ॐ के उच्चारण में सामान्यतः प्लुतांत के बाद उन्मना तक अर्धचंद्र, बिंदु इत्यादि पर ध्यान किया जाता है। इस छंद में भैरव इससे भिन्न अभ्यास के बारे में कह रहे हैं, वे कहते हैं कि प्लुतांत के बाद अर्धचंद्र, बिंदु इत्यादि पर ध्यान मत करो वरन शून्य पर ध्यान करो। यहाँ शून्य का मतलब है वह ध्यान जो किसी बाहरी या भीतरी वस्तु के सहारे से मुक्त हो तथा किसी क्लेश के अवशेषों से भी मुक्त हो। घट पट कपड़ा इत्यादि बाहरी सहारे हैं, सुख दुःख अदि मन के भीतरी सहारे हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वैष तथा अभिनिवेश की वासनाएं पञ्चक्लेश हैं। (अविद्या चार भ्रम रूप होती है- अनित्य में नित्य का, अशुचि में शुचिता का, दुःख में सुख का तथा अनात्म में आत्मा का आरोपण), (अस्मिता याने बुद्धि एवं अहंकार को आत्मा जानना), (राग का मतलब है Attachment, कुछ वस्तु, व्यक्ति या स्थिति से लगाव), (द्वैष याने किसी व्यक्ति,परिस्थिति आदि से घ्रणा) तथा (अभिनिवेश मतलब मृत्यु का डर / अधिक जीने की इच्छा) । शून्य का मतलब है जो उक्त सारी स्थितियों से मुक्त है। दूसरे शब्दों में मन को निर्विकल्प बनाना है। ३. शून्य की सर्वश्रेष्ठ शक्ति पराशक्ति है। ४. शून्य को प्राप्त होना भैरव भाव को प्राप्त होना है जहाँ भिन्नता, द्वैत अथवा विकल्प नहीं हैं। यह धारणा आणवोपाय से आरम्भ हो कर शाक्तोपाय में समाप्त होती है।

धारणा क्रमांक १७

यस्य कस्यापि वर्णस्य पूर्वान्तावनुभावयेत्।

शून्यया शून्यभूतोऽसौ शून्याकारः पूमान्भवेत्॥४०॥

योगी को किसी भी एक अक्षर के उच्चारण से पहले तथा अंततः उच्चारण के बाद उसे शून्य रूप से ध्यान करना चाहिए। ऐसा करने से योगी शून्य की शक्ति द्वारा शून्य के स्वाभाव से एक हो जाता है।

टिप्पणियां :- १. शून्य की शक्ति पराशक्ति है। २. शून्य के स्वाभाव से एक होने का तात्पर्य है कि अब योगी शरीर, प्राण आदि में अपनी अहंता नहीं रखता। यह धारणा शाक्तोपाय से आरम्भ हो कर शाम्भवोपाय में समाप्त होती है।

धारणा क्रमांक १८

तन्त्र्यादिवाद्यशब्देषु दीर्घेषु क्रमसंस्थितेः।

अनन्यचेताः प्रत्यन्ते परव्योमवपुर्भवेत्॥४१॥

अगर कोई निरंतर जागरूकता से वाद्ययन्त्र के तारों अदि को छेड़ने से उत्पन्न ध्वनि को सुने, जो ध्वनि क्रमशः धीमे होते हुए विलीन हो जाती है, तो वह योगी भैरवावस्था को प्राप्त हो जाता है।

टिप्पणियां :- १. वाद्ययंत्रों से उत्पन्न ध्वनि लम्बे समय तक चलती है तथा मधुर होने से ध्यान आकर्षित करती है। जब यह थम जाती है, तब भी श्रोता के मन में बजती रहती है। श्रोता इसमें मग्न हो जाता है। ठीक से उत्पन्न एकल ध्वनि अनंत से आती हुई प्रतीत होती है तथा अनंत में ही विलीन हो जाती है। २. जब संगीत थम जाता है, यह स्मृति में स्पंदित होता रहता है। अगर योगी इसी स्पंदन पर ध्यान बनाये रखता है और मन को अन्यत्र भटकने नहीं देता तो वह आदिध्वनि परावक् से एक हो जाता है तथा भैरव अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

धारणा क्रमांक १९

पिण्डमन्त्रस्य सर्वस्य स्थूलवर्णक्रमेण तु।

अर्धेन्दुबिन्दुनादान्तः शून्योच्चाराद्भवेच्छिवः॥४२॥

पिण्डमंत्र, जो स्थूल अक्षरों का क्रमबद्द संयोजन है, के उच्चार (उच्चार = १.उच्चारण २.ध्वनि का स्थूल से सूक्ष्म में प्रवेश और अंततः ३.मानसिक परामर्श) से जो बिंदु, अर्धचंद्र तथा नादांत से आरम्भ हो कर सूक्ष्मतम स्वरुप में जारी रहता है और अंततः शून्य में या उन्मना अवस्था में समाप्त होता है, योगी शिव हो जाता है। अथवा कह सकते हैं कि पिण्डमन्त्रों के परामर्श से, जो स्थूल अक्षरों के क्रम में, शून्य की तरह, सामना के स्तर तक सजे हैं, योगी उन्मना स्थिति, जो शिवावस्था है, प्राप्त कर लेता है।

टिप्पणियां :- १. उच्चार का यहाँ मतलब उच्चारण नहीं है वरन स्थूल उच्चारण से ऊपर उठते हुए, सूक्ष्म स्पंदन से हो कर मानसिक परामर्श तक पहुँचता हुआ स्पंद है। २. पिण्डमन्त्र वह है जिसमे हरेक अक्षर अलग अलग रखा हुआ है तथा सामान्यतः अंत में एक जोड़नेवाला स्वर है। ॐ पिण्डमन्त्र है, नवात्ममन्त्र भी पिण्डमन्त्र है - ह् र् क्ष् म् ल् व् य् ण् ॐ (णुं) ३. पिण्डमन्त्र में पहले स्थूल अक्षरों का उच्चारण होता है जैसे ॐ तथा ह् से णुँ तक नवात्म मन्त्र में, इसके बाद सूक्ष्म स्पंदन पर मानसिक परामर्श बिंदु या अर्धचंद्र के रूप में होता है और अंततः शून्य पर ध्यान करने से योगी का मन उन्मना अवस्था तक पहुँच जाता है और योगी शिव से एक हो जाता है।

उदहारण के लिए ॐ मन्त्र को लें। शिवोपाध्याय अपनी व्याख्या में बताते हैं कि कैसे ॐ का उच्चारण पराशक्ति की "नाभि से द्वादशान्त तक उर्ध्वगामी अवस्था" को इंगित करता है - ॐ का सर्वप्रथम अक्षर अ है, इसका ध्यान नाभि के स्तर पर किया जाता है। 'उ' द्वितीय अक्षर है, इसका ध्यान हृदय के स्तर

पर किया जाता है तथा अंतिम अक्षर 'म्' का ध्यान मुख में या तालु में किया जाता है, बिंदु का ध्यान भ्रूमध्य में तथा अर्धचंद्र का ध्यान ललाट में किया जाता है। निरोधिनी का ध्यान ललाट के उपरी भाग में तथा नाद का ध्यान सर में,नादांत का ब्रह्मरंध्र में, शक्ति का चमड़ी में, व्यापिनी का शिखा की जड़ में, समना शिखा के मध्य में तथा उन्मना का ध्यान शिखा के अंतिम छोर पर किया जाता है। इसके बाद अनंत भैरवरूप चेतना है। इस तरह योगी भैरव से एक हो जाता है। नाभि, केंद्र (हृदय) तथा मुख में अ उ म् का उच्चारण स्थूल रूप में होता है। इनमे से प्रत्येक के उच्चारण में जो समय लगता है वह एक मात्रा या मोर कहलाता है। बिंदु से समना तक लगने वाला समय अर्धमात्रा या आधा मोर है। उन्मना समय से परे है। यह आणवोपाय है जो शाम्भवस्थिति तक ले जाता है।

धारणा क्रमांक २०

निजदेहे सर्वदिक्कं युगपद्भावयेद्वियत्।

निर्विकल्पमनास्तस्य वियत्सर्वं प्रवर्तते॥४३॥

अपने शरीर में सभी दिशाओं (अन्तरिक्ष) का निर्विचार हो कर युगपत (एकसाथ) ध्यान (याने क्रमबद्ध नहीं) करने से योगी सर्वदेशिक शून्य का अनुभव करता है तथा चेतना के विशाल समुद्र से एक हो जाता है।

टिपण्णी :- इस ध्यान की दो शर्ते हैं, (एक) युगपत (दो) निर्विकल्पमनाः। सभी दिशाओं में व्याप्त शून्य अंतरिक्ष का ध्यान एकसाथ स्वशरीर में करना चाहिए तथा मन एकदम स्थिर होना चाहिए। अगर योगी इन दो स्थितियों को साध लेता है तो वह शून्यातिशून्य का स्तर पा लेता है। निरपेक्ष शून्य स्तर पर सारी भिन्नता नष्ट हो जाती है। यह शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक २१

प्रष्ठशून्यं मूलशून्यं युगपद्भावयेच्च यः।

शरीरनिरपेक्षिण्या शक्त्या शून्यमना भवेत्॥४४॥

जो एकसाथ अपने ऊपर एवं अपने आधार पर शून्य का ध्यान करता है वह उस शक्ति के द्वारा जो शरीर पर निर्भर नहीं है, शून्यमना याने निर्विकल्प हो जाता है।

टिप्पणियां :- १. "प्रष्ठशून्यं" का यहाँ मतलब है स्वयं से ऊपर शून्य। २. "शरीरनिर्पेक्षिण्य़ा शक्त्या" का मतलब है प्राणशक्ति की सहायता से। यह धारणा शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक २२

प्रष्ठशून्यं मूलशून्यं हृच्छून्यं भावयेत्स्थिरम्।

युगपन्निर्विकल्पत्वान्निर्विकल्पोदयस्ततः॥४५॥

जो ऊपर स्थित शून्य, आधार पर शून्य एवं हृदय केंद्र में शून्य पर ध्यान करता है उसमे, निर्विकल्प होने से, शिवावस्था का उदय होता है जो सारे विकल्पों से परे है।

टिप्पणियां :- १. इस धारणा की व्याख्या में शिवोपाध्याय कहते हैं :- प्रष्ठशून्यं का तात्पर्य है कि योगी को प्रमाता के शून्य होने पर ध्यान करना चाहिए। २. मूलशून्यं का तात्पर्य प्रमेयों के शून्य होने से है तथा हृच्छून्यं का तात्पर्य प्रमाण याने ज्ञान के शून्य होने पर ध्यान करने से है। यह धारणा शाक्तोपाय के अंतर्गत है।

धारणा क्रमांक २३

तनूदेशे शून्यतैव क्षणमात्रं विभावयेत्।

निर्विकल्पं निर्विकल्पो निर्विकल्पस्वरूपभाक्॥४६॥

अगर कोई निर्विकल्प हो कर क्षणभर भी स्वयं के शरीर के सीमित अनुभवकर्ता स्वरूप को शून्य मान कर ध्यान करे तो वह विकल्पों से मुक्त हो कर भैरव स्वरूप को प्राप्त होता है।

टिप्पणियां :- १. इस छंद में योगी की तीन स्थितियां बताई गयी हैं, (एक) निर्विकल्प हो कर अपने शरीर पर ध्यान करता है, (दो) इस अभ्यास से विकल्पों से प्रायः मुक्त रहने की प्रवृत्ति विकसित होती है, (तीन) जब यह प्रवृत्ति दीर्घ होती है तो वह सभी विकल्पों के ऊपर स्थित भैरव को प्राप्त होता है। भैरव का स्वरूप ही निर्विकल्प (निर्विकल्पस्वरूपभाक) है।

यह शाक्तोपाय है जी शाम्भवस्थिति तक ले जाता है।

धारणा क्रमांक २४

सर्वदेहगतंद्रव्यम वियद्व्याप्तं मृगेक्षणे।

विभाव्येत्ततस्तस्य भावना सा स्थिरा भवेत्॥४७॥

हे मृगनैनी, (अगर साधक तात्कालिक रूप से शून्यभाव पाने में असमर्थ है तो) उसे अपने शरीर के घटकों जैसे मांस, अस्थियों, आदि पर ध्यान करने दो जो शून्य से व्याप्त हैं। इस अभ्यास से साधक की शून्य की भावना (ध्यान) स्थिर हो जाती है, और उसे अंततः चेतना के प्रकाश का अनुभव प्राप्त हो जाता है। यह धारणा भी शाक्तोपाय के अंतर्गत है।

धारणा क्रमांक २५

देहान्तरे त्वग्विभागं भित्तिभूतं विचिन्तयेत्।

न किञ्चिदन्तरे तस्य ध्यायन्नध्येयभाग्भवेत्॥४८॥

योगी को स्वयं के शरीर के चर्म भाग का "बाहरी जड़ दीवार" की तरह ध्यान करना चाहिए। "चर्म के भीतर कुछ भी ठोस मात्रात्मक नहीं है" इस तरह ध्यान करने से वह उस स्थिति में पहुँच जाता है जहाँ ध्यान का कोई आलंबन नहीं है।

टिप्पणियां :- १. हर व्यक्ति आदतन स्वयं को अपने शरीर से पहचानता है। जब योगी अपनी चेतना को अपने शरीर की सीमाओं से विलग करने का अभ्यास विकसित कर लेता है तो उसे सर्वव्यापकता का बोध होने लगता है। २. जब इस अभ्यास से योगी सार्वभौम चेतना को प्राप्त होता है तो वह शिवव्याप्ति का अनुभव करता है। यहाँ उसका "सीमित जीव का अनुभव" समाप्त हो जाता है। अब उसके लिए कोई प्रमेय नहीं है जिस पर वह ध्यान कर सके। प्रमेय एवं प्रामाता का भेद ही समाप्त हो गया है। भैरव के शब्दों में - "एवंविधे परे तत्वे कः पूज्यः कश्च तृप्यति" (वि.भैर.छंद १६)। अर्थात् जब सर्वोच्च सत्य का बोध हो जाता है, तब पूज्य कौन है ? किसे पूजा से तृप्त करना है ? यह शाक्तोपय है।

धारणा क्रमांक २६

हृद्याकाशे निलीनाक्षः पद्मसम्पुटमध्यगः।

अनन्यचेताः सुभगे परं सौभाग्यमाप्नुयात्॥४९॥

जिसका मन अन्य इन्द्रियों के साथ हृदय के आतंरिक अवकाश में अवस्थित हो गया है, जो मानसिक रूप से हृदय कमल के दो घटों के मध्य में प्रवेश कर गया है, जिसने अन्य सब कुछ को अपनी चेतना से विलग कर दिया है, हे सुंदरी वह सर्वोच्च सौभाग्य को प्राप्त करता है।

टिप्पणियां :- १. हृदय का मतलब यहाँ शारीरिक हृदय से नहीं है। यहां मतलब है मध्यपट (Diaphragm) के ऊपर वह बिन्दु जो शरीर का केंद्र है। यह एक आकाशीय (Etheric) संरचना है जो कमलाकार है, ठीक वैसे ही जैसे मनुष्य का हृदय कमल के आकार का होता है। इस आकाशीय रचना के मध्य में चित्त का निवास है। चित्त याने वह चेतना जो सदा प्रमाता है, प्रमेय कभी नहीं। यही मनुष्य की आत्मा है तथा वृहद ब्रहमांडीय रूप से समस्त सृष्टि का केंद्र है। मूल शब्द 'हृद्य' है जिसके दो मतलब हैं - "हृदय से सम्बंधित" एवं "प्रिय"। २. कमल का आकार ऐसा है मानो दो अर्धवृत्तीय पात्रों को एक कर दिया गया हो। शिवोपाध्याय अपनी व्याख्या में कहते हैं कि ऊपरी पात्र "प्रमाण" (प्रमाण = ज्ञान) का प्रतिनिधित्व करता है, हृदयकमल का नीचला पात्र "प्रमेय" का प्रतिनिधित्व करता है तथा हृदयकमल का केंद्र "प्रामाता" का प्रतिनिधित्व करता है। यही केंद्र ज्ञाता है और योगी को यहीं मानसिक रूप से डूबना है। ३. सब कुछ को अपनी चेतना से विलग करने का मतलब एकाग्रता से है। ४. शिवोपाध्याय परम सौभाग्य के बारे में कहते हैं - "विश्वेश्वरता स्वरूपम् परमानंदम्" अर्थात सृष्टि के स्वामी का सर्वोच्च आनंद। शिवसूत्र के शाम्भवोपाय के १५ वें सूत्र की व्याख्या में क्षेमराजजी ने इस छंद का सन्दर्भ लिया है। उन्होंने भी सौभाग्य की व्याख्या 'विश्वेश्वरतापत्तिः' के रूप में की है याने सृष्टि के स्वामी को प्राप्त करना। यह धारणा शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक २७

सर्वतः स्वशरीरस्य द्वादशान्ते मनोलयात्।

दृढबुद्धेर्दृढीभूतं तत्त्वलक्ष्यं प्रवर्तते॥५०॥

जब योगी के पूर्ण शरीर में चेतना व्याप्त हो जाती है तथा जब उसका मन, जो एकाग्रता के अभ्यास से दृढ़ हो गया है, स्वशरीर में स्थित द्वादशान्त में विलीन हो जाता है, तब वह स्थिर बुद्धि योगी परमसत्य का अनुभव करता है।

टिप्पणियां :- १. शरीर में स्थित द्वादशान्त के बारे में स्पष्ट नहीं है कि यहाँ किसे द्वादशान्त कहा गया है। नाभि से हृदय बारह उंगल पर है, हृदय से कंठ बारह उंगल पर है, कंठ से ललाट एवं ललाट से ब्रहमरंध्र भी बारह उंगल पर है। २. आनंदभट्ट विज्ञानकौमुदी की व्याख्या में कहते हैं - द्वादशान्त का

मतलब शून्यातिशून्य याने खाली अंतरिक्ष भी हो सकता है अथवा मध्यनाड़ी सुषुम्ना भी हो सकता है। यह धारणा आणवोपाय है जो शाक्तोपाय तक ले जाती है।

धारणा क्रमांक २८

यथा तथा यत्र तत्र द्वादशान्ते मनः क्षिपेत्।

प्रतिक्षणं क्षीणवृत्तेर्वैलक्षण्यं दिनैर्भवेत्॥५१॥

व्यक्ति का मन जहाँ भी जाता है, जैसा भी है, उसे लगातार बार बार द्वादशान्त पर स्थिर करना चाहिए। ऐसा करने से मन की चंचलता कम होने लगेगी तथा कुछ दिनों में वह एक अद्भुत स्थिति को पा लेगा।

टिप्पणियां :- १. किसी भी द्वादशान्त पर मन को स्थिर करना चाहिए, चाहे वह उर्ध्व द्वादशान्त या ब्रह्मरंध्र हो अथवा बाह्य द्वादशान्त जो बाहरी अंतरिक्ष में नाक से बारह उंगल दूर हो। यह अंतरद्वादशान्त भी हो सकता है जो शरीर के केंद्र में है। २. शिवोपाध्याय इसकी व्याख्या में कहते हैं - "असामान्य भैरवरूपता" याने अतूलनीय तथा अनिर्वचनीय भैरवावस्था। यह आणवोपाय है।

धारणा क्रमांक २९

कालाग्निना कालपदादुत्थितेन स्वकं पुरम्।

प्लुष्टं विचिन्तयेदन्ते शान्ताभासस्तदा भवेत्॥५२॥

(मंत्र ॐ र-क्ष-र-य-ऊं तनुं दाहयामी नमः का जाप करते हुए) योगी को इस तरह ध्यान करना चाहिए "मेरा शरीर मेरे दाहिने पैर के अंगूठे से निकलने वाली अग्नि से जल रहा है।" तब उसे स्वयं के परमशांत वास्तविक अस्तित्व का बोध होगा।

टिप्पणियां :- १. कालाग्नि रूद्र सार्वभौम संहारक है। साधक यह कल्पना करता है कि उसका शरीर कालाग्नि रूद्र की लपटों से जल रहा है। यह भावना बोध देती है कि शरीर एवं उससे जुड़ी सारी सीमाएं जो शरीर या उसके कर्मों से बनी हैं, कालाग्नि रूद्र की लपटों में नष्ट हो जाती है तथा जो अविनाशी प्रमात्र बच रहता है वह उसका शुद्ध स्वरुप है। २. कालपद एक तकनीकी शब्द है जिसका मतलब दाहिने पैर का अंगूठा है। ३. साधक इस धारणा से महसूस करता है कि उसकी सारी अशुद्धियाँ जल गयी हैं तथा वह आत्मा का अनुभव परम शान्ति एवं आनंद के रूप में करता है। यह आणवोपाय है।

धारणा क्रमांक ३०

एवमेव जगत्सर्वं दग्धं ध्यात्वा विकल्पतः।

अनन्यचेतसः पुंसः पुंभावः परमो भवेत्॥५३॥

इस तरह अगर साधक यह भावना करे कि सारा संसार कालाग्नि की आग में जल रहा है तथा मन को कहीं भी भटकने न दे तब पुरुष की सर्वोच्च स्थिति उसे प्रकट होती है।

टिप्पणियां :- १. पूर्ववर्ती धारणा में साधक का स्वयं का शरीर था जिसके कालाग्नि में जलने की भावना की गयी थी लेकिन वर्तमान धारणा में सारी सृष्टि के कालाग्नि में भस्म होने की भावना की गयी है। २. पुरुष की सर्वोच्च स्थिति, शिवोपाध्याय के अनुसार, "अपरिमित प्रमातृ भैरवता" है अर्थात भैरव का स्वाभाव जो असीमित प्रमातृता है। यह धारणा शाक्तोपाय के अंतर्गत है।

धारणा क्रमांक ३१

स्वदेहे जगतो वापि सूक्ष्मसूक्ष्मतराणि च।

तत्त्वानि यानि निलयं ध्यात्वान्ते व्यज्यते परा॥५४॥

अगर योगी गहरे से चिंतन करे कि उसके स्वयं के शरीर अथवा संसार के सूक्ष्मातिसूक्ष्म घटक अपने अपने कारणों में विलीन हो रहे हैं तो अंत में परादेवी प्रकट हो जाती है।

टिप्पणियां :- १. यह छंद व्याप्ति (Fusion) की तकनीक के सन्दर्भ में है। इस विधि में स्थूल तत्त्व (विश्वाभिव्यक्ति के घटक) सूक्ष्म में पुनः अवशोषित हो जाते हैं। सूक्ष्म सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतर सूक्ष्मतम में विलीन हो जाता है। उदाहरणार्थ पञ्चमहाभूतों को तन्मात्राओं में विलीन करने की भावना करना है, तन्मात्राओं को अहंकार में और अहंकार को बुद्धि तथा उसे प्रकृति में विलीन करना है। इस तरह से सब कुछ सदाशिव में विलीन हो जाता है। इसके बाद पराशक्ति प्रकट हो जाती है। इस तरह की व्याप्ति को, जिसका वर्णन किया गया, आत्मव्याप्ति कहते हैं। एक और तरह की व्याप्ति का वर्णन धारणा ३४ (छंद ५७) में किया जायेगा जिसे शिवव्याप्ति कहते हैं। २. जब परादेवी का स्वरुप प्रकट होता है तो पूरी सृष्टि ही पराशक्ति की अभिव्यक्ति दिखाई देने लगती है, सब कुछ उसमे समा जाता है, भेददृष्टि समाप्त हो जाती है। यह धारणा शाक्तोपाय के अंतर्गत है।

धारणा क्रमांक ३२

पीनां च दुर्बलां शक्तिं ध्यात्वा द्वादशगोचरे।

प्रविश्य हृदये ध्यायन् मुक्तः स्वातंत्र्यमाप्नुयात्॥॥

प्राणशक्ति स्थूल होती है। यदि इसे प्राणायाम आदि यौगिक क्रियाओं से दुर्बल तथा सूक्ष्म बना कर योगी इसका द्वादशान्त अथवा हृदय में ध्यान करे तथा मानसिक रूप से इसमें प्रविष्ट हो जाये तो वह मुक्त हो जाता है और उसे स्वातंत्र्य प्राप्त हो जाता है।

टिप्पणियां :- १. अंतिम पंक्ति तन्त्रालोक (आ. १५, छंद ४८०-८१) में भिन्न तरह से उद्धृत है - "...सुप्तः स्वातंत्र्यमाप्नुयात्॥" क्षेमराज स्पंदनिर्णय में इसे इस तरह से उद्धृत करते हैं - "स्वप्न स्वातन्त्र्यं आप्नुयात्" जो करीब अभिनव गुप्त के उद्धरण की तरह ही है। २. स्वामी लक्ष्मणजू के अनुसार इस छंद की पारंपरिक व्याख्या इस तरह से है - 'पीनां' का मतलब है "श्वास को भीतर लेना एवं बाहर निकालना"। यह स्थूल रूप से करना है अर्थात ध्वनि के साथ श्वास की क्रिया करना है। 'दुर्बलां' का मतलब है श्वास को धीमा करना। अतः छंद का मतलब होगा - "अगर योगी श्वास को धीमे धीमे लेने एवं निकालने का अभ्यास करता है तथा द्वादशान्त एवं हृदय पर ध्यान करते हुए निद्रा में चला जाता है तो उसे स्वप्नों पर नियंत्रण प्राप्त हो जाता है। उस योगी को स्वप्न स्वयं की इच्छा के अनुकूल ही आएंगे। यह आणवोपाय है जिससे शाम्भव अवस्था प्राप्त होती है।

धारणा क्रमांक ३३

भुवनाध्वादिरूपेण चिन्तयेत्क्रमशोऽखिलम्।

स्थूलसूक्ष्मपरस्थित्या यावदन्ते मनोलयः॥५६॥

योगी को भुवनों एवं अध्वाओं के अंतर्गत पूरे ब्रह्मांड का चिंतन करते हुए स्थूल से सूक्ष्म स्थिति, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तथा अंततः सूक्ष्मतम सर्वोच्च में सब विलीन कर देना चाहिए। जब तक कि मन चिन्मात्र चैतन्य में समा नहीं जाता, यह अभ्यास करना चाहिए।

टिप्पणियां :- १. त्रिक दर्शन के अनुसार प्रमेय एवं प्रमातृ के रूप में यह दृष्यमान संसार स्वातंत्र्य शक्ति का ही विस्तार है। यह विस्तार छः अध्वाओं (रास्तों) के अंतर्गत होता है। इनमे तीन वाचक (indicator) अध्वा हैं जो ग्राहक या प्रमातृ वाला पहलू है। शेष तीन वाच्य (indicated) अध्वा हैं जो इस विस्तार का प्रमेय वाला पहलू है। २. परवाक् के स्तर पर वाचक एवं वाच्य, शब्द एवं अर्थ, संज्ञा एवं उस संज्ञा द्वारा

इंगित वस्तु अभिन्न रूप से एक होते हैं। विश्वाभिव्यक्ति के समय इनमें भिन्नता आरम्भ होती है। प्रथम अध्वा, अर्थात भिन्नता की ओर बड़ने वाला प्रथम कदम, है "वर्ण एवं कला का ध्रुवीकरण" । यहाँ वर्ण का मतलब अक्षर नहीं है, न ही इसका मतलब रंग अथवा श्रेणी है। इसका मतलब "प्रमेय से जुड़े कार्यशील स्वरूप का मात्रात्मक पैमाना" है तथा 'कला' का मतलब "रचनात्मकता का एक पहलू" है। 'वर्ण' कार्यशील पहलू है और 'कला' वे अंतर्निहित गुण (Predicables) हैं जो रचित के बारे में कहे जा सकते हैं। यह प्रथम अध्वा है जो परावाक का ध्रुवीकरण आरंभ करता है। यह अध्वा 'पर' (Supreme) कहा जाता है अथवा अभेद कहा जाता है क्योंकि अभी वर्ण एवं कला (रचनात्मक पहलु) में कोई भेद नहीं है।

रचनात्मक अवरोहण में अगला अध्वा है 'मंत्र' एवं 'तत्त्व' का ध्रुवीकरण। रचनात्मकता के इस स्तर को परापर या भेदाभेद कहते हैं। 'मंत्र' 'तत्त्व' का आधार सूत्र है। तत्त्व सूक्ष्म रचनाओं का आधार या स्रोत है। तीसरा और अंतिम ध्रुवीकरण 'पद' एवं 'भुवन' का है। यह अपर या भेद का स्तर है। यहाँ वाचक एवं वाच्य पूर्णतः भिन्न हो जाते हैं। भुवन का मतलब यह सृष्टि है जैसी किसी भी भोक्ता को दिखाई देती है। पद का मतलब है वाणी एवं मन की प्रतिक्रिया द्वारा विश्व का वास्तविक निरूपण।

वाचक की और के त्रिक (तीन का समूह- वर्ण, मंत्र एवं पद) को कालाध्वा (of temporal order) तथा

वाचक या शब्द Indicator	वाच्य या अर्थ Indicated
प्रमातृ क्रम, लौकिक क्रम, **कालाध्वा** (of Temporal order), वाणी द्वारा अभिव्यक्त (Phonematic manifestation)	प्रमेय क्रम,(Objective order), स्थानिक - अन्तरिक्षीय क्रम, **देशाध्वा** (of Spatial order), ब्रह्मांडीय अभिव्यक्ति
प्रकाश की अभिव्यक्ति	विमर्श की अभिव्यक्ति
१. परा - अभेद का स्तर:- **वर्ण**	**कला**
२. परापर - भेदाभेद या सूक्ष्म स्तर:- **मंत्र**	**तत्त्व**
३. अपर या भेद का स्तर:- **पद**	**भुवन**

वाच्य की और के त्रिक (कला, तत्त्व एवं भुवन) को देशाध्वा (of spatial order) कहते हैं। इनमे हर पहले आने वाला अध्वा व्यापक (Pervasive) है। यह बाद में आने वाले अध्वा का जनक हो कर उसमे व्याप्त है। बाद में आने वाला अध्वा पूर्ववर्ती अध्वा की तुलना में व्याप्य है अर्थात पूर्ववर्ती अध्वा द्वारा व्याप्त किये जाने योग्य है। तात्पर्य यह है कि इन अध्वाओं में व्याप्य व्यापक का रिश्ता है। २. इस धारणा में साधक को भावना करना है कि हर स्थूल अध्वा अपने से सूक्ष्म अध्वा में विलीन हो। जैसे पद

एवं भुवन जो सबसे स्थूल हैं, उनके क्रमशः अपने से सूक्ष्मतर मंत्र एवं तत्त्व में विलीन होने की तथा उनके अपने से सूक्ष्मतर वर्ण एवं कला में विलीन होने की भावना करना होता है। आगे वर्ण एवं कला की परावाक में विलीन होने की तथा परावाक की परशिव में विलीन होने की भावना की जाती है जो दिव्यतम स्थिति है। सर्वप्रथम पर्याप्त अभ्यास किया जाता है। धीरे धीरे योगी को विश्वास हो जाता है कि यह ठोस दिखाई देने वाला संसार (भुवन) तथा स्थूल वाणी (पद) एक गहरी सूक्ष्म प्रक्रिया (मंत्र एवं तत्त्व) का आभास मात्र है। अगले कदम से उसे बोध होने लगता है कि ये मंत्र एवं तत्त्व भी एक और गहरे सत्य का आभास हैं। इस तरह उसे क्रमशः वर्ण एवं कला तथा अंततः शक्ति - शिव का बोध हो जाता है।

जब उसे सारी अभिव्यक्ति के चित्त या विज्ञान में विलीनीकरण का अभ्यास हो जाता है, वह भैरव स्थिति को पा लेता है। उसका चित्त चिति हो जाता है। यही चित्तप्रलय है। यह प्रक्रिया लय भावना कहलाती है। यह अध्यारोह क्रम है जो योगी को शिवतल तक उठा देता है। प्रत्यभिज्ञाहृदय के तेरहवे सूत्र में चित्तप्रलय वर्णित है। इस धारणा एवं धारणा ३१ में यह अंतर है कि ३१ वी धारणा सूक्ष्म शक्ति तक ले जाती है जहाँ परादेवी प्रकट हो जाती है, लेकिन वर्तमान धारणा शिवस्तर तक ले जाती है जहाँ व्यक्तिगत मन सार्वभौम चेतना में विलीन हो जाता है। धारणा ३१ में सर्वोच्च शक्ति के बोध का उद्देश्य था जिसके द्वारा विश्व अभिव्यक्त है, वर्तमान ३३ वीं धारणा में उद्देश्य है व्यक्तिगत चेतना को सार्वभौम चेतना में बदल देना। यही मनोलय या चित्तप्रलय है। यह शाक्तोपाय है जो शिवावस्था तक ले जाता है।

धारणा क्रमांक ३४

अस्य सर्वस्य विश्वस्य पर्यन्तेषु समन्ततः।

अध्वप्रक्रियया तत्त्वं शैवं ध्यात्वा महोदयः॥५७॥

अगर साधक शिव तत्त्व पर ध्यान करे (जो समस्त का सार है), जो सृष्टि के सब ओर अंतिम सीमा तक है, और इसके लिए षडध्वा की विधि का उपयोग करे तो उसे महान जागरूकता प्राप्त होगी।

टिप्पणियां:- १. शिव प्रकाश भी है और विमर्श भी, अर्थात वह चेतना का प्रकाश भी है और उस चेतना की चेतना (जागरूकता) भी है। शिव तत्त्व शिव का स्वरुप है। शिव तत्त्व पर ध्यान का मतलब शिव स्वरुप पर ध्यान है जो प्रकाश एवं विमर्श रूप है। २. षडध्वा के दो पहलू हैं, वाचक (Indicator) एवं वाच्य (Indicated)। वाचक की ओर वर्ण, मंत्र एवं पद हैं जो प्रकाश की अभिव्यक्ति हैं। वाच्य की ओर कला, तत्त्व एवं भुवन हैं जो विमर्श की अभिव्यक्ति हैं। ३३ वी धारणा में षडध्वा की तकनीक का उपयोग प्रमेय एवं प्रमातृ के रूप में उपस्थित सृष्टि के स्रोत को खोजने के लिए किया गया था। यह स्रोत ही केंद्रीय सत्य है। यहाँ पर इसी तकनीक का उपयोग केंद्रीय सत्य का स्वरूप जानने के लिए किया गया

है। षडध्वा की विधि अपूर्ण होगी यदि इसका उपयोग मात्र सृष्टि को इसके स्रोत तक खोजने के लिए पदचिन्हों की तरह किया जाये क्योंकि अभी भी शिव तत्त्व को समझना शेष रहेगा जो प्रकाश एवं विमर्श दोनों को अपने में अभिन्न रूप से समाये हुए है तथा वाच्य एवं वाचक दोनों का ही उद्‌गम है। इसी तरह धारणा ३१ में रचनात्मक घटकों के पदचिन्हों को खोज कर आत्मव्याप्ति प्राप्त करने की विधि बताई गयी है। आत्मव्याप्ति त्रिकशास्त्र के अनुसार अपर (आरंभिक या छोटा) उद्देश्य है। यह (आत्मव्याप्ति) प्रकाश पर जोर देती है तथा पूरी सृष्टि को समाहित नहीं करती। वर्तमान धारणा में शिवव्याप्ति का उद्देश्य है याने शिव से एकीकरण जो प्रकाश एवं विमर्श रूप है। यही परमसत्य है जो सारी सृष्टि को अपने में समाहित करता है। इस धारणा में सृष्टि को नकारा नहीं जाता वरन सनातन दिव्यता से जोड़ कर विमर्श की अभिव्यक्ति की तरह देखा जाता है। ३. यह महान जागरूकता शिवस्वरुप का बोध है जो प्रकाश भी एवं विमर्श रूप भी है। ३३ वी धारणा एवं वर्तमान ३४ वी धारणा में यह अंतर है कि ३३ वी धारणा में प्रमेय प्रमातृ भेद का विलय क्रमशः किया जाता है जबकि वर्तमान धारणा में सारी सृष्टि का विलय शिवतत्त्व में एकसाथ समग्रता से पूर्ण किया जाता है। शिवोपाध्याय कहते हैं - "इस संसार का सत्य शिव से अलग कुछ भी नहीं अतः इस संसार को संसार की तरह नहीं वरन शिव की रूपात्मकता (Modality) की तरह देखना चाहिए। अतः शिव एकमात्र हैं जिस पर चिंतन किया जा सके। यहाँ महोदय का मतलब महान अध्यात्मिक जागरण है। यह धारणा शाक्तोपाय के अंतर्गत है।

धारणा क्रमांक ३५

विश्वमेतन्महादेवि शून्यभूतं विचिन्तयेत्।

तत्रैव च मनोलीनम् ततस्तल्लयभाजनम्॥५८॥

हे महादेवी, योगी ने यह गहराई से ध्यान करना चाहिए कि यह संसार पूर्णतः शून्य है। इस शून्य में उसका मन लीन हो जायेगा तब वह शून्यातिशून्य में विलीन होने की उच्च अर्हता पा लेगा।

टिपण्णी:- यह शून्य के ध्यान की पहली धारणा है। आगे शून्य के ध्यान की और भी धारणाएं आएंगी। यह धारणा शाक्तोपाय है जो शाम्भवावस्था तक ले जाती है।

धारणा क्रमांक ३६

घटादिभाजने दृष्टिं भित्तीस्त्यक्त्वा विनिक्षिपेत्।

तल्लयं तत्क्षणाद्‌गत्वा तल्लयात्तन्मयो भवेत्॥५९॥

योगी को किसी खाली पात्र में देखना है तथा उसकी सीमाओं को त्याग देना है। क्षण भर में ही उसका मन उस पात्र के अंतरिक्ष में लीन हो जायेगा। इसके बाद उसे यह कल्पना करना है कि उसका मन पूर्ण शून्य में समा गया है, तब उसे सर्वोच्च अहंता का अनुभव होगा।

टिप्पणियां :- खाली बर्तन में घूरने की क्रिया मन को शून्य में समाहित करने की तैयारी है। पात्र का अंतरिक्ष कल्पना द्वारा पूर्ण शून्य का विस्तार पा लेता है और उसमे विलीन मन शिवानुभूति पा लेता है। यह शाम्भवोपाय है।

धारणा क्रमांक ३७

निर्वृक्षगिरिभित्त्यादि-देशे दृष्टिं विनिक्षिपेत्।

विलीने मानसे भावे वृत्तिक्षीणः प्रजायते॥६०॥

योगी को चाहिए कि वह ऐसी जगह दृष्टि को स्थिर करे जहाँ वृक्ष, पर्वत, दीवारें आदि न हों। मन को जब कोई आसरा नहीं मिलेगा तो मन की गतिविधि थम जाएगी।

टिप्पणियां:- १. यहाँ युक्ति यह है कि जब मन विशाल अंतरिक्ष में विचरता है और उसे कोई भी ठोस सहारा नहीं मिलता तो मन शून्य में विलीन हो जाता है। २. जब मन विशाल आकाश में समा जाता है तो मन के विकल्प एवं विचार क्रिया बंद गली में पहुँच कर समाप्त हो जाते हैं। इसी समय आतंरिक प्रकाश अपनी उपस्थिति प्रतीत करवाता है तथा साधक को बोध होता है कि एक गहरा सत्य है जो ज्ञानेन्द्रियों से परे है। ३. अभिनव गुप्त अपनी परात्रिंशिका में इस छंद की पहली पंक्ति उद्धृत करते हैं तथा इस बात की पुष्टि करते हैं कि ऐसे क्षण में 'भैरव बोधानुप्रवेश' याने भैरव चेतना में प्रवेश होता है। विशाल अंतरिक्ष में स्थिर दृष्टि जहाँ विचार थम जाते हैं तथा दृष्टि को कोई सहारा नहीं होता उसे 'दृष्टिबंधन भावना' कहते हैं। यहाँ न ध्यान है न जप अतः यह शाम्भवोपाय है।

धारणा क्रमांक ३८

उभयोर्भावयोर्ज्ञाने ध्यात्वा मध्यं समाश्रयेत्।

युगपच्च द्वयं त्यक्त्वा मध्ये तत्त्वं प्रकाशते॥६१॥

जब योगी को दो वस्तुओं या विचारों का अनुभव हो तब उसे दोनों का एकसाथ त्याग कर देना चाहिए। दोनों के बीच के अन्तराल में सत्य एकाएक प्रकाशित होगा।

टिप्पणियां:- १. जयरथ ने तन्त्रालोक में 'ज्ञात्वा' की जगह 'ध्यात्वा' शब्द स्वीकारा है जो ज्यादा बेहतर प्रतीत होता है। (तन्त्रालोक १-प्रष्ठ १२७)। २. हमारा मन सदा विचारों में उलझा रहता है। हम हमारे विचारों के दास हैं। हमारी सारी मानसिक गतिविधियों के पीछे सत्य छिपा है जो सारी मानसिक क्रिया को जीवन देता है। इस सत्य को वस्तु की तरह नहीं पाया जा सकता क्योंकि यह सनातन है एवं इसी के प्रष्ठ पर सारे अनुभव होते हैं। यही सत्य सारे अनुभवों का कारण है। अगर हम एक के बाद एक सतत आने वाले विचारों के साथ मन को बहने से रोक सकें एवं दो विचारों के बीच के अंतराल में मन को उतार दें तो उस विचारहीन अवस्था में हम उस सत्य से सराबोर हो जाते हैं जो कभी विचार की वस्तु नहीं बन सकता। इसे 'निरालम्ब भावना' कहते हैं अर्थात बिना किसी प्रमेय के आसरे के मन का रचनात्मक चिंतन। यह छंद नेत्र तंत्र में निरालम्ब भावना के उदाहरण के रूप में उद्धृत है। यह शून्य भावना भी है क्योंकि मन शून्य की गहराई में एकाएक गिर जाता है। सत्य की जैसी चमक इस विधि में मिलती है उसे स्पंद शास्त्र में उन्मेष कहा गया है। दो विचारों का, जो क्रम से अंतराल के पहले एवं बाद में आते हैं, त्याग करने को 'अनालोचन' (अनदेखा करना) कहते हैं। यह अति महत्वपूर्ण एवं अचूक धारणा है जिससे भैरव का बोध होता है। यह शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक ३९

भावे त्यक्ते निरुद्धा चिन् नैव भावान्तरं व्रजेत्।

तदा तन्मध्यभावेन विकसत्यति-भावना॥६२॥

जब साधक का मन जो एक वस्तु से हट कर जाने वाला होता है तब वह दृढ़ता से रोक लिया जाता है। तब मन किसी दूसरे प्रमेय पर न जा कर मध्यस्थिति पर विश्राम करता है जो दो प्रमेयों के बीच की स्थिति है। इस बीच की स्थिति से सर्वोच्च चेतना का बोध प्रबलता से विकसित होता है।

टिप्पणियां:- १. धारणा क्रमांक ३८ में साधक को सलाह दी गयी थी कि वह दो विधायक प्रमेयों का एकसाथ त्याग करे तथा दोनों के बीच ध्यान करे। वर्तमान धारणा में साधक को एक विधायक (धनात्मक) भावना एवं एक ऋणात्मक भावना याने जो अभी तक साधक ने मन में उत्पन्न नहीं होने दी है, के मध्य में ध्यान करने की सलाह दी गयी है। दोनों में यही मूल अंतर है। दोनों का परिणाम एक जैसा है याने दोनों से भैरव भाव प्रकट होता है।

अभिनव गुप्त ने तन्त्रालोक भाग १ छंद ८४ में इसका उल्लेख किया है:-

आत्मैव धर्मः इत्युक्तः शिवामृतपरिप्लुतः। प्रकाशावस्थितं ज्ञानं भावाभावादिमध्यतः॥

आत्मा ही अंतिम सत्य है जो किसी का भी वास्तविक स्वरूप है, यह शिवामृत से परिपूर्ण है। दो वस्तुओं या एक वस्तु, एक ऋणात्मक वस्तु के बीच ध्यान करने से योगी आत्मा के प्रकाश में स्थित हो जाता है। जयरथ की व्याख्या के बाद कोई संदेह बाकी नहीं रहता कि उक्त श्लोक विज्ञान भैरव के छंद ६१ एवं ६२ (धारणा ३८ एवं ३९) के सन्दर्भ में ही है। जयरथ कहते हैं:- "यह अंतराल शून्य है जो दोनों का आधार है। जो इस शून्य पर ध्यान करता है, जो दो विधायक वस्तुओं अथवा एक विधायक और एक अभाव के मध्य है, वह सर्वोच्च चेतना (परमात्मनि) में स्थिर हो जाता है जो शिवामृत से परिपूर्ण है"। आगे जयरथ इन दोनों छंदों को उद्धृत भी करते हैं। यह धारणा शाक्तोपाय के अंतर्गत है।

धारणा क्रमांक ४०

सर्वं देहं चिन्मयं हि जगद्वा परिभावयेत्।

युग्पन्निर्विकल्पेन मनसा परमोदयः॥६३॥

जब स्थिरचित्त निर्विकल्प हो कर साधक स्वयं की सम्पूर्ण देह को अथवा पूर्ण सृष्टि को एकसाथ चेतन रूप में ध्यान करता है तब उसे सर्वोच्च जागरण होता है।

टिप्पणी:- इस ध्यान में दो महत्वपूर्ण शर्तें हैं, पहली मन बिना संशय के स्थिर तथा निर्विकल्प हो और दूसरी यह युगपत हो याने क्रमशः नहीं वरन समग्रता से एकसाथ सारी सृष्टि (या शरीर) का ध्यान। जैसे अगर शरीर का ध्यान करे तो शरीर का कोई हिस्सा छूटे नहीं न ही सारे हिस्सों का क्रमशः ध्यान हो, शरीर के सभी हिस्सों को एकसाथ चेतन रूप से ध्यान करना है। ऐसा ही सम्पूर्ण सृष्टि के लिए भी कर सकते हैं। परमोदय का मतलब है कि उसे यह बोध हो जाता है कि विश्व दिव्य प्रकाश में स्थित है। यह धारणा शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक ४१

वायुद्वयस्य संघट्टादन्तर्वा बहिरन्ततः।

योगी समत्वविज्ञानसमुद्गमनभाजनम्॥६४॥

दो श्वासों, प्राण एवं अपान, के एक दूसरे में विलय हो जाने से अंततः दोनों थम जाते हैं - द्वादशान्त में भी एवं केंद्र में भी। उस शून्य की स्थिति पर ध्यान करने से, जिसमे न प्राण का अनुभव है न अपान का, योगी इतनी पूर्णता पाता है कि उसे समानता का अतीन्द्रिय अनुभव (समत्व-विज्ञान-समुद्गमन) होता है। यह धारणा आणवोपाय से शाक्तोपाय तक ले जाती है।

धारणा क्रमांक ४२

सर्वजगत्स्वदेहं वा स्वानंदभरितं स्मरेत्।

युग्पन्स्वामृतेनैव परानन्दमयो भवेत्॥६५॥

योगी को चाहिए कि वह पूर्ण ब्रह्माण्ड का अथवा स्वयं की देह का एकसाथ (युगपत्) समग्रता से ध्यान करे कि यह अध्यात्मिक आनंद से परिपूर्ण है अर्थात् उसे स्वयं के आत्मा के आनंद से परिपूर्ण स्वदेह अथवा सारी सृष्टि का एकसाथ ध्यान करना चाहिए। ऐसा करने से उसे अमृत तुल्य आनंद के रास्ते सर्वोच्च आनंद से एकता प्राप्त होगी।

टिप्पणियां:- १. युगपत का मतलब है एक बार में एकसाथ समग्र शरीर या सृष्टि का ध्यान करना है, टुकड़ों टुकड़ों में नहीं। २. स्वानंद का मतलब है स्वयं के आत्मा का स्वभावगत् आनंद। यहाँ किसी इन्द्रिय आनंद की बात नहीं है। ३. शब्द 'मृतेन' या अमृत इस बात को दर्शाता है कि आनंद सनातन है, इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता।

क्षेमराज ने यह छंद शिवसूत्र विमर्शिनी में दो जगह उद्धृत किया है (शाम्भवोपाय के १८ वे एवं आणवोपाय के ३९ वें सूत्र की व्याख्या में)। स्वामी लक्ष्मणजू के अनुसार शब्द 'वा' का यहाँ मतलब 'अथवा' नहीं है वरन 'और' (समुच्चय) है। अतः प्रथम पंक्ति का मतलब होगा - "योगी को सारी सृष्टि एवं स्वयं के शरीर पर एकसाथ आत्मानंद से भरे होने का ध्यान करना चाहिए। यह धारणा भी शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक ४३

कुहनेन प्रयोगेण सद्य एव मृगेक्षणे।

समुदेति महानन्दो येन तत्त्वं प्रकाशते॥६६॥

हे मृगनैनी ! जादू के प्रयोग से दर्शक के हृदय में एकाएक सर्वोच्च आनंद उत्पन्न होता है, मन की इसी अवस्था में सत्य स्वयं प्रकट होता है।

टिप्पणियां:- १. जब कोई दर्शक किसी आश्चर्यजनक जादू के प्रदर्शन को देखता है तो उसकी सामान्य चेतना का स्तर उठ जाता है जहाँ प्रमेय प्रमाता का भेद नष्ट हो जाता है। स्तब्ध मन विचारशून्य हो जाता है तथा विस्मय से भर जाता। चेतना के इस स्तर पर भैरव का स्वरुप प्रकट हो जाता है। यह मात्र एक उदाहरण है। जब किसी दृष्य पर, जो भय या रोमांच पैदा करने वाला होता है, ध्यान करने से मन

मौन हो कर परमानंद (Ecstasy) से भर जाता है। यहाँ मन के निर्विकल्प होते ही सर्वोच्च सत्य प्रकट हो जाता है। यह धारणा शाक्तोपाय है।

स्वामी लक्ष्मणजू के अनुसार इस छंद का एक और अर्थ हो सकता है। शब्द 'कुहन' का मतलब बगल में गुदगुदाना भी है, अतः इस छंद का मतलब हो जाएगा - "हे मृगनैनी ! बगल में गुदगुदाने से एकाएक आनंद की एक लहर पैदा होती है। अगर कोई इस आनंद के स्वरूप पर ध्यान करे तो सत्य स्वयं प्रकट हो जायेगा"।

धारणा क्रमांक ४४

सर्वस्रोतो निबन्धेन प्राणशक्त्योर्ध्वया शनैः।

पिपीलस्पर्शवेलायां प्रथते परमं सुखम्॥६७॥

ज्ञानेन्द्रियों के सारे द्वारों को बंद करने से समस्त संवेदी गतिविधियाँ बंद हो जाती है तथा प्राणशक्ति धीमे धीमे उर्ध्वगति करती है। यह उर्ध्वगति मध्यनाड़ी में मूलाधार से ब्रह्मरंध्र की और होती है। इस उर्ध्वगति में मध्यनाड़ी के विभिन्न स्थानकों पर गुदगुदाहट सी महसूस होती है जैसी किसी चींटी के शरीर पर चलने से होती है। ऐसे अनुभव के समय सर्वोच्च आनंद प्राप्त होता है।

टिप्पणियां:- १. जब प्राणशक्ति की उर्ध्वगति से कुण्डलिनी जाग्रत होती है तो वह द्वादशान्त अथवा ब्रह्मरंध्र की ओर गति करती है। यह धीमी गति चींटी के शरीर पर चलने जैसी संवेदना पैदा करती है जो बेहद आनंददायक होती है। शिवोपाध्याय कहते हैं कि कुम्भक प्राणायाम से प्राणशक्ति की उर्ध्वगति प्राप्त की जा सकती है। वे पतंजलि योगसूत्र का उद्धरण देते हैं - (२ / ४९-५०) "कुम्भक प्राणायाम के द्वारा प्राण को दीर्घ अथवा सूक्ष्म बनाया जा सकता है।" यह आणवोपाय होगा लेकिन पतंजलि का सन्दर्भ कुण्डलिनी योग से नहीं है अतः शिवोपाध्याय द्वारा पतंजलि को यहाँ उद्धृत करना असंगत है।

वास्तव में धारणा का आशय है कि - जब इन्द्रियों के सारे द्वारों को अवरुद्ध कर दिया जाता है तथा मन विचारमुक्त हो कर निर्विकल्प हो जाता है, सुषुम्ना में प्राणशक्ति आवेशित हो जाती है। जैसे जैसे कुण्डलिनी ब्रह्मरंध्र की ओर बड़ती है, योगी को शरीर पर चींटी के चलने की तरह संवेदना होती है। ऐसे में योगी को कुण्डलिनी का अनुभव एक स्थान से दूसरे स्थान पर चलने के रूप में होता है और वह आनंदातिरेक से भर जाता है।

धारणा क्रमांक ४५

वहनेर्विषस्य मध्ये तु चित्तं सुखमयं क्षिपेत्।

केवलं वायुपूर्णं वा स्मरानन्देन युज्यते॥६८॥

योगी अपना रमणीय चित्त वहनी एवं विष के मध्य स्थित कर देता है, दोनों तरह से - या तो स्वयमेव से अथवा वायु द्वारा व्याप्त होने पर - योगी को यौन के आनंद की अनुभूति होती है।

टिप्पणियां:- १. 'वहनी' तथा 'विष' योग के तकनिकी शब्द हैं। वहनी का तात्पर्य संकोच (Contraction) से है। यह संकोच प्राण के मेध्रकंद (जो मलद्वार के पास अमृतकुंड है) में प्रवेश द्वारा निष्पादित होता है। विष का तात्पर्य विकास (Expansion) से है। वहनी का सम्बन्ध अधःकुण्डलिनी से है तथा विष का सम्बन्ध उर्ध्वकुण्डलिनी से है। उर्ध्वकुण्डलिनी वह स्थिति है जब प्राण एवं अपान सुषुम्ना में प्रवेश करते हैं और कुण्डलिनी ऊपर उठती है। कुण्डलिनी विशिष्ट शक्ति है जो साड़े तीन वलयों में लिपटी हुई मूलाधार पर पड़ी होती है। जब कुण्डलिनी पौने दो वलय (आधी) खुल कर ऊपर सुषुम्ना में उठती है तो लम्बिका को पार कर ब्रह्मरंध्र को भेदती है तब यह उर्ध्वकुण्डलिनी कहलाती है। इसका यह फैलाव विष या विकास कहलाता है। अधःकुण्डलिनी का क्षेत्र लम्बिका से नीचे, मूलाधार पर मुड़ी स्थित में पड़े कुण्डलिनी के पौने दो वलय के हिस्से तक है। अधःकुण्डलिनी में प्राण का संचरण लम्बिका से मूलाधार की ओर होता है।

अधःकुण्डलिनी में प्राण का प्रवेश संकोच या वहनी कहलाता है; उर्ध्वकुण्डलिनी में प्राण का प्रवेश विकास कहलाता है, इसे ही विष कहते हैं। वहनी प्राणवायु की प्रतीक है तथा विष अपान वायु का प्रतीक है। अधःकुण्डलिनी के मूल, मध्य एवं अंत पर प्राण का प्रवेश वहनी या संकोच कहलाता है। वहनी शब्द मूल 'वह्' से निकला है, जिसका मतलब 'उठा कर ले जाना' है। चूंकि प्राण इस स्थिति में मूलाधार तक ले जाये जाते हैं इसीलिए यह संकोच की स्थिति वहनी कहलाती है। विष का यहाँ मतलब जहर (Poison) नहीं है। यह शब्द मूल 'विष्' से निकला है जिसका मतलब 'व्यापना' है। अतः यहां विष का मतलब प्रसार या विकास है। जब प्राण एवं अपान सुषुम्ना में प्रवेश करते हैं चित्त (व्यक्तिगत चेतना) को वहनी एवं विष याने अधःकुण्डलिनी एवं उर्ध्वकुण्डलिनी के बीच निलंबित कर देना चाहिए। वायुपूर्ण का मतलब है कि चित्त को इस तरह स्थिर करना है कि न तो वायु नाक से प्रवेश करे न गुदाद्वार से निकले। चित्त एवं वायु आपस में जुड़े हैं, एक को रोकने से दूसरे को रोका जा सकता है। जब चित्त को इस तरह दोनों कुण्डलिनियों के बीच स्थिर किया जाता है तब स्मरानंद या यौन आनंद का अनुभव होता है। यह एकदम उल्टा है। यौन संसर्ग बाह्य है,जबकि यह पूर्णतः आतंरिक है। यह धारणा आणवोपाय है।

धारणा क्रमांक ४६

शक्तिसंगमसंक्षुब्ध शक्त्यावेशावसानिकम्।

यत्सुखं ब्रह्मतत्त्वस्य तत्सुखं स्वाक्यमुच्यते॥६९॥

यौन संसर्ग के समय उत्तेजना के द्वारा स्त्री के अस्तित्व में समावेश हो जाता है। आनंदोत्कर्ष ब्रह्मानंद है। यह आत्मा का आनंद है।

टिप्पणियां:- १. स्त्री में समावेश कहना दिव्य शक्ति में समावेश के लिए सांकेतिक है। यह छंद बताता है कि सर्वोच्च आनंद द्वैत के समाप्त हो जाने के बाद ही उजागर होता है। शिवोपाध्याय ने इस मिलन के गुह्य अर्थ को समझाने हेतु एक छंद उद्धृत किया है:-

जयया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं वेद नान्तरम्।

निदर्शनं श्रुतिः प्राह मूर्खस्तं मन्यते विधिग्॥

जैसे पुरुष स्त्री से आलिंगनबद्ध हो कर एकता के भाव में डूब जाता है तथा किसी भी बाहरी अथवा भीतरी संवेदना को भूल जाता है, वैसे ही जब मन दिव्य शक्ति में समाविष्ट हो जाता है, वह समस्त द्वैत भाव को भूल कर समग्रता से एक चेतना में रमण करता है। श्रुति में स्त्री संसर्ग का वर्णन मात्र दिव्य से मिलन के प्रतीक की तरह बताया गया है। वे लोग मूर्ख है जो यह कहते हैं कि इस तरह श्रुति में शारीरिक भोग की हिमायत की गयी है। यह व्यक्ति के स्वयं के आत्मा का रमण है जो बाहर से नहीं आता। स्त्री तो यहाँ मात्र दिव्यता के उजागर होने का निमित्त है। यह धारणा शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक ४७

लेहनामंथनाकोटैः स्त्रीसुखस्य भरात्स्मृतेः।

शक्त्यभावेऽपि देवेशि भवेदानन्दसंप्लवः॥७०॥

हे देवी ! स्त्री की अनुपस्थिति में भी यौन अनुभव के आलिंगन चुम्बन की स्मृति मात्र से रमणीय आनंद की तीव्र अनुभूति होती है। टिप्पणी:- चूँकि स्त्री की अनुपस्थिति में भी मात्र कल्पना से यौन सुख पाया जा सकता है अतः यही प्रमाणित होता है कि यह सुख व्यक्ति के भीतर ही है। इसी आनंद पर ध्यान करना चाहिए जो स्त्री पर निर्भर नहीं है। इससे सार्वभौम चेतना का बोध होता है। यह शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक ४८

आनन्दे महति प्राप्ते दृष्टे वा बान्धवे चिरात्।

आनंदमुद्गतं ध्यात्वा तल्लयस्तन्मना भवेत्॥७१॥

जब कोई महान ख़ुशी प्राप्त होती है, अथवा किसी मित्र या रिश्तेदार को लम्बे समय बाद मिलने से होने वाली ख़ुशी के अवसर पर, योगी उस ख़ुशी पर ध्यान करता है तथा उस ख़ुशी में खो जाता है। इससे वह आनंदरूप ही हो जाता है।

टिप्पणियां:- १. ऐसे किसी तीव्र आनंद के क्षण पर योगी को चाहिए कि वह अपने मन को अपने भीतर आनंद के स्रोत पर एकाग्र करे, जो स्पंद रूप है, जब तक कि वह उसमे डूब न जाये। तब वह उस सुख से अभिन्न हो जाता है। चूँकि यह आनंदानुभव एकाएक विलीन भी हो जाता है इसलिए योगी इसके उत्पन्न होते ही इसे मानसिक रूप से पकड़ लेता है। यह धारणा शाक्तोपाय के अंतर्गत है।

धारणा क्रमांक ४९

जग्धिपानकृतोल्लास-रसानन्दविजृम्भणात्।

भावेयद्भरितावस्थां महानन्दस्ततो भवेत्॥७२॥

जब कुछ खाने पीने से स्वाद के आनंद की प्राप्ति होती है, तब योगी उस आनंद की पूर्णावस्था पर ध्यान करता है, जिससे उसे सर्वोच्च सुख प्राप्त होता है।

टिप्पणी:- भौतिक आवश्यकताओं के पूरा करने पर जो सुख मिलता है उस पर पूर्ण ध्यान करने से साधक यह जान लेता है कि यह सुख भी उस दिव्य स्पंद से ही प्राप्त होता है। उस स्पंद में खो जाने से उसे सर्वोच्च आध्यात्मिक आनंद की उपलब्धि होती है। यह धारणा भी शाक्तोपाय के अंतर्गत है।

धारणा क्रमांक ५०

गीतादिविषयास्वादा-समसौख्यैकतात्मनः।

योगिनस्तन्मयत्वेन मनोरूढेस्तदात्मता॥७३॥

जब योगी संगीत आदि का अतुलनीय आनंद लेता है, तब उसके मन के विकसित होने के कारण वह उस आनंद से अभिन्न हो जाता है।

टिप्पणियां:- १. धारणा ४६ से ५० में भैरव कहते हैं कि किसी शारीरिक सुख को भी योगी योग के साधन की तरह उपयोग कर सकता है। इन छंदों में विभिन्न शारीरिक सुखों के उदाहरण दिए गए हैं। यौन संसर्ग स्पर्शानंद का उदाहरण है, मित्र से मिलन रूपजन्य आनंद का, स्वादिष्ट भोजन रसजन्य आनंद का एवं संगीत शब्द जनित आनंद का उदाहरण है। इनमे से प्रत्येक में आनंद के आतंरिक स्रोत पर ध्यान करने पर जोर दिया गया है। साधक को चाहिए कि वह आनंद के समुद्र पर ध्यान करे जो उसके वास्तविक स्वरूप में ही है। जीवन की हरेक ख़ुशी में इसी आनंद की कुछ बूंदें दिखाई देती हैं। धारणा ४६ से ४९ में भौतिक आनंद के उदाहरण हैं। धारणा ५० में संगीतजन्य सुरुचिपूर्ण परमानंद का उदाहरण है शैव सौंदर्य शास्त्र के अनुसार यह सुरुचिपूर्ण परमानन्द (Aesthetic rapture) तभी संभव है जब साधक को संविद विश्रांति हो अर्थात उसका मन सारे संसार से सिमट कर उसके अपने वास्तविक स्व (आत्मा) में विश्राम करता है। इस तरह सौंदर्य का विस्मय आत्मानुभव का उत्तम स्रोत है। यह शाक्तोपाय है जो शाम्भवावस्था तक ले जाता है।

धारणा क्रमांक ५१

यत्र तत्र मनस्तुष्टिर्मनस्तत्रैव धारयेत्।

तत्र तत्र परमानन्दस्वरूपं संप्रवर्तते॥७४॥

जहाँ जहाँ भी व्यक्ति का मन बिना उद्वेग के संतुष्टि पाता है, उस पर ध्यान स्थिर करो। ऐसे हर अवसर पर सर्वोच्च आनंद का वास्तविक स्वरूप प्रकट हो जायेगा।

टिप्पणियां:- १. तुष्टि का मतलब है बिना उद्वेग के या बिना क्षोभ के मानसिक संतोष। तुष्टि आनंद का एक गहरा अनुभव है। तुष्टि में व्यक्ति सब कुछ बाहरी (विकल्पों) को भूल जाता है एवं वहां कोई क्षोभ नहीं होता। २. यहाँ योगी को उस आनंद में डूब जाना होता है। ऐसा करते ही योगी खोज लेता है कि यही दिव्य है और सभी की आत्मा है। यह शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक ५२

अनागतायाम् निद्रायां प्रणष्टे बाह्यगोचरे।

सावस्था मनसागम्या परा देवी प्रकाशते ॥७५॥

जब नींद अभी पूरी नहीं आई, याने अब आने ही वाली है और संसार के सारे प्रमेय दृष्टि से ओझल हो गए हैं, उस जाग्रत एवं निद्रा के बीच की अवस्था पर साधक को ध्यान करना चाहिए। परादेवी यहाँ प्रकट हो जाएगी।

टिप्पणियां:- १. निद्रा एवं जागरण के बीच की स्थिति निर्विकल्प होती है याने विचारों का क्रम थम जाता है। यह चेतना की तुर्यावस्था या अनुभवातीत अवस्था है। २. विचारहीन अवस्था पर ध्यान करने से योगी को आत्मा का अनुभव होगा, जो सारे विचारों एवं कल्पनाओं की सीमाओं का अतिक्रमण कर जाता है। इस तरह व्यक्ति को दिव्यता का अनुभव होता है। इसी दिव्य स्वभाव को परदेवी या सर्वोच्च देवी कहा जाता है। यह शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक ५३

तेजसा सूर्यदीपादेराकाशे शबलीकृते।

दृष्टिर्निवेश्या तत्रैव स्वात्मरूपं प्रकाशते॥७६॥

व्यक्ति को अपनी दृष्टि अंतरिक्ष के उस क्षेत्र में स्थिर करना चाहिए जो सूर्य अथवा दीपक की किरणों से रंग बिरंगा हो गया है, उसी स्थान पर आत्मा का स्वरूप उजागर हो जायेगा।

टिप्पणियां:- १. 'इत्यादि' से तात्पर्य चन्द्रमा अदि से है, जिसकी किरणों से रात्री को आकाश रंगीन दिखाई देता है। २. ऐसी परिस्थितियों में योगी सीमित प्रमेय चेतना को उतार फेंकता है तथा सर्वोच्च अनंत चेतना का अनुभव करता है। यह आणवोपाय है।

धारणा क्रमांक ५४

करङ्किण्या क्रोधनया भैरव्या लेलिहानया।

खेचर्या दृष्टिकाले च परावाप्तिः प्रकाशते॥७७॥

ब्रहमाण्ड के सहज ज्ञान (अंतर्ज्ञान / intuitive perception) के समय करङकिणी, क्रोधना, भैरवी, लेलिहाना तथा खेचरी मुद्राओं के द्वारा सर्वोच्च अनुभव प्राप्त होता है।

टिप्पणियां:- १. स्वामी लक्ष्मणजू के अनुसार 'दृष्टिकाले' का मतलब है 'योगाभ्यास के समय'। मुद्रा एक तकनिकी शब्द है जिसका मतलब है शरीर के अंगों का विशिष्ट विन्यास एवं नियंत्रण जो ध्यान करने में सहायक हो। अध्यात्मिक आनंद प्रदान करने के कारण इसे मुद्रा कहा जाता है। २. करङ्किणी मुद्रा का

यह नाम इसलिए दिया गया कि इसके द्वारा योगी इस संसार को करङ्क याने अस्थि-पंजर की तरह देखता है। यह योगी शरीर को सर्वोच्च शून्य (Ether) में विलीन की तरह देखता है। यह ज्ञानसिद्धों की मुद्रा है। ज्ञानसिद्ध याने जिसने पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है तथा जिसकी आत्मिक अंतर्दृष्टि सम्पूर्ण है। ३. क्रोधना वह मुद्रा है जो क्रोध प्रकट करती है। इसमें शरीर विन्यास कठोर एवं तनावपूर्ण होता है। यह मुद्रा मंत्र-कोष में पृथ्वी से प्रकृति तक के २४ तत्वों को एकत्रित कर लेती हैं। यह मंत्रसिद्धों की मुद्रा है याने उनकी जो मंत्र सिद्ध कर चुके हैं। ३. भैरवी मुद्रा में योगी अपनी आँखों को बाहर कहीं भी स्थिर कर लेता है तथा पलकों को झपकने से रोक लेता है। इस समय वह अपनी जागरूकता अन्दर मोड़ लेता है। वह सब कुछ भीतर समेत लेता है। यह मेलापसिद्धों की मुद्रा है। मेलाप का मतलब है- विभिन्न अंगों की ऊर्जाओं के मिलन की अलौकिक शक्ति। इसका एक और मतलब है- "सिद्ध एवं योगिनी का मिलन"। जो इस क्षेत्र में सिद्ध हो चुके हैं उन्हें मेलापसिद्ध कहते हैं। ४. लेलिहना वह मुद्रा है जिसमे योगी अपनी आत्मा में सम्पूर्ण सृष्टि का आस्वादन करता है। यह शाक्तसिद्धों की मुद्रा है। ५. खेचरी का शाब्दिक मतलब है -"जो आकाश में विचरण करती है"। 'ख' या खाली अंतरिक्ष चेतना का प्रतीक है। खेचरी मुद्रा चार तरह की होती है। **प्रथम खेचरी** जो हठयोग प्रदीपिका में वर्णित है जिसमे योगी अपनी जबान को उलट कर नर्म तालू के पीछे ले जाता है। **दूसरी खेचरी** मुद्रा का वर्णन क्षेमराज ने शिवसूत्र विमर्शिनी में शाक्तोपाय के पांचवे सूत्र की व्याख्या के अंतर्गत किया है - योगी पद्मासन में बैठता है तथा दंड की तरह सीधा हो कर अपना ध्यान नाभि पर स्थिर कर ख-त्रय (शक्ति, व्यापिनी तथा समना), जो कपाल के अंतरिक्ष में स्थित होती हैं, का चिंतन करता है। इस स्थिति में मन को स्थिर कर वह मन को इन तीन शक्तियों के साथ आगे धकेलता है। स्वयं को इस स्थिति में रख कर महान योगी अपने सर में गति प्राप्त कर लेता है। **तीसरे प्रकार की खेचरी** वह है जो विवेकमार्तण्ड में वर्णित है। - जबान को पीछे उलट दिया जाता है तथा जिह्वाग्र को तालू के पीछे ले जाया जाता है और योगी दृष्टि को भ्रूमध्य पर एकाग्र करता है। **चौथी खेचरी** वह है जहाँ योगी सतत हर समय शिवचेतना में रहता है और उसकी चेतना सारे प्राणियों में विचरती है। यह समस्त वर्णित खेचरी मुद्राओं में सर्वोत्तम है तथा यह शाम्भवसिद्धों की मुद्रा है। यह शाम्भवोपाय के अंतर्गत है।

धारणा क्रामंक ५५

मृद्वासने स्फिजैकेन हस्तपादौ निराश्रयम्।

निधाय तत्प्रसङ्गेन परापूर्णा मतिर्भवेत्॥७८॥

एक नर्म आसन ले कर योगी उस पर एक कुल्हे से बैठता है तथा पैरों एवं हाथों को कोई सहारा प्रदान नहीं करता। ऐसे करने से योगी की प्रज्ञा पूर्ण सात्विक हो जाती है एवं पूर्णता से भर जाती है।

टिप्पणियां :- १. योगी को इस आसन में सहज हो कर बैठना चाहिये। २. ऐसी स्थिति में मन पूर्ण विश्राम को प्राप्त होगा अतः राजस एवं तामस विलीन हो जाते हैं और मन संतुलित हो कर सत्त्व का अनुभव प्राप्त करता है। यह आणवोपाय है।

धारणा क्रमांक ५६

उपविश्यासने सम्यक् बाहू कृत्वार्धकुञ्चितौ।

कक्षव्योम्नि मनः कुर्वन् शममायाति तल्लयात्॥७९॥

आसन पर सुखपूर्वक बैठ कर, दोनों हाथों को माथे पर रख कर योगी स्वयं के कंधों के नीचे बगलों पर ध्यान करता है। जैसे ही मन इस ध्यान में लीन हो जाता है, महान शांति का अनुभव प्राप्त होता है।

टिपण्णी:- आसन का उद्देश्य मन को विश्राम देना है। इस आसन में साधक को महान शान्ति प्राप्त होती है। यह आणवोपाय के अंतर्गत है।

धारणा क्रमांक ५७

स्थूल रूपस्य भावस्य स्तब्धां दृष्टिं निपात्य च।

अचिरेण निराधारं मनः कृत्वा शिवं व्रजेत्॥८०॥

बाहर स्थूल संसार को अपलक देखते हुए (तथा भीतर ध्यान करते हुए) मन को समस्त आधारों से मुक्त कर विचारशून्य होने से साधक बिना देरी के शिवावस्था प्राप्त करता है।

टिपण्णी :- विकल्प मन को आधार देते हैं। निराधार मन में शुद्ध चैतन्य प्रकट होता है। यह भैरवी मुद्रा है तथा उपाय शाम्भवोपाय है।

धारणा क्रमांक ५८

मध्यजिह्वे स्फारितास्ये मध्ये निक्षिप्य चेतनाम्।

होच्चारं मनसा कुर्वंस्ततः शान्ते प्रलीयते॥८१॥

अगर कोई मुख को पूरा खुला रखे तथा पीछे पलटी हुई जिह्वा को मुख के मध्य में रख कर तथा मन को मुख गुहा के केंद्र में स्थिर कर मानसिक रूप से स्वरविहीन 'ह्' का उच्चारण करता है तो वह शान्तिमें विलीन हो जायेगा।

टिप्पणियां:- १. यह विवेकमार्तण्ड में वर्णित खेचरी मुद्रा है -

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।

भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥

जब उलटी हुई जिह्वा तालू को स्पर्श करते हुए खोपड़ी की तरफ प्रवेश करती है, उस समय दृष्टी भ्रूमध्य में स्थिर करने से खेचरी मुद्रा होती है। २. ऐसी मुद्रा में स्थिर हो कर योगी अपना ध्यान खुले हुए मुख के मध्य में करता है। ३. प्राण निरंतर 'हंसः' मंत्र का उच्चारण करते हैं, जब जिह्वा उलटी हो कर तालू से चिपकी हो तो 'स' का उच्चारण संभव नहीं है तब हंसः मंत्र का 'ह' अकेला बचता है। 'ह' को स्वरहीन उच्चारित करना है। चूँकि स्वरविहीन (अनच्क) उच्चारण संभव नहीं है अतः यह उच्चारण मानसिक रूप से करना है। स्वरविहीन 'ह्' प्राणशक्ति का प्रतीक है, इसके मानसिक जाप से प्राणशक्ति विकसित होती है। यह मध्यदशा का विकास है। इससे आत्मानुभव होता है। यह आणवोपाय है।

धारणा क्रमांक ५९

आसने शयने स्थित्वा निराधारं विभावयन्।

स्वदेहं मनसि क्षीणे क्षणात् क्षीणाशयो भवेत्॥८२॥

नर्म बिस्तर पर बैठ कर योगी यह भावना करता है कि उसका शरीर बिना सहारे के है। ऐसा करने से उसको विचार उठना बंद हो जाता है, तब एक क्षण में योगी के अवचेतन मन में स्थित रूचि, स्वाभाव, पसंद, नापसंद सब विलीन हो जाते हैं।

टिप्पणी :- हलाकि वह नर्म आसन पर बैठा है, योगी यह दृढ़ता से विश्वास करता है कि उसका शरीर बिना सहारे के अधर में है। इस तरह से उसका मन विचारहीन हो जता है। जब वह विचारों से मुक्त हो जाता है, जो स्वयमेव उठते हैं, तब उसकी स्वभावगत रुचियाँ (वासनाएं), जो अवचेतन मन में स्थित होती हैं, विलीन हो जाती हैं। यह शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक ६०

चलासने स्थितस्याथ शनैर्वा देहचालनात्।

प्रशान्ते मानसे भावे देवि दिव्योघमाप्नुयात्॥८३॥

हे देवी, चलायमान आसन पर बैठने से अथवा स्वयं के द्वारा शरीर को धीरे धीरे हिलाने से योगी की मानसिक स्थिति शांत हो जाती है। तब वह दिव्यौघ को प्राप्त करता है तथा दिव्य चेतना के आनंद को अनुभव करता है।

टिप्पणियां: - १. जब कोई गाड़ी, घोड़े, हाथी या किसी भी चलायमान वाहन पर बैठा होता है तब उस वहां की गति के कारण उसका शरीर आगे पीछे झूलता है अथवा वह स्वयं अपने शरीर को झुलाता है। ऐसी स्थिति में उसे एक विलक्षण आनंद की अनुभूति होती है और उसका मन अंतर्मुखी हो जाता है। अंतर्मुखी होने से उसे दिव्य शान्ति (ज्ञान के प्रकाश) की अनुभूति होती है। २. शब्द 'औघ' का शाब्दिक मतलब है 'बाढ़' अथवा 'झरना'। योग के सन्दर्भ में औघ का मतलब है "प्रज्ञा की सतत परंपरा"। तन्त्रशास्त्रों में औघ के तीन प्रकार वर्णित हैं- (अ) मानवौघ (आ) सिद्धौघ (इ) दिव्यौघ। पारंपरिक ज्ञान (आध्यात्मिक अंतर्चेतना) जो मानव गुरु द्वारा प्राप्त होती है उसे मानवौघ कहते हैं। सिद्धों (जो मानव की स्थिति से ऊपर उठ चुके हैं) से प्राप्त ज्ञान सिद्धौघ कहलाता है, और जो ज्ञान देवों से प्राप्त होता है वह दिव्यौघ कहलाता है। दिव्यौघ सदा अंतर प्रज्ञा (Intuition) द्वारा अक्रम विधि से (in Non-rational way) प्राप्त होता है। यह शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक ६१

आकाशं विमलं पश्यन् कृत्वा दृष्टिं निरंतराम्।

स्तब्धात्मा तत्क्षणाद्देवि भैरवं वपुराप्नुयात्॥८४॥

अगर कोई स्वयं को एकदम स्थिर कर ले तथा स्थिर नेत्रों से स्वच्छ बादलविहीन आकाश को निहारे तो हे देवी वह तत्क्षण भैरवरूप हो जाता है।

टिप्पणियां:- १. यहाँ यात्पर्य है कि सारी संवेदनाएँ विलीन हो जाएँ तथा भावनाएं थम जाएँ। २. अनंत अन्तरिक्ष को निहारने से व्यक्ति उसकी विहंगमता में खो जाता है। ३. यहाँ नेत्रों को अपलक रखना है। यह शाम्भवोपाय है।

धारणा क्रमांक ६२

लीनं मूर्ध्नि वियत्सर्वं भैरवत्वेन भावयेत्।

तत्सर्वं भैरवाकार-तेजस्तत्त्वं समाविशेत्॥८५॥

योगी सम्पूर्ण अंतरिक्ष को एकसाथ भैरवरूप से ध्यान कर स्वयं के मस्तक में विलीन कर लेता है तब सारी सृष्टि भैरव रूप से प्रकाशित हो जाती है।

टिप्पणी:- यदि योगी यह भावना करता है कि यह वृहद अन्तरिक्ष भैरव की अभिव्यक्ति है तथा यह उसके माथे में विलीन हो रही है तो उसकी खोपड़ी का अंतरिक्ष वृहत अन्तरिक्ष को धारण कर भैरवरूप हो जाता है। उसे अनुभव होता है कि यह सारी सृष्टि भैरव के प्रकाश से ओतप्रोत है। यह शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक ६३

किंचिज्ज्ञातं द्वैतदायि बाह्यालोकस्तमः पुनः।

विश्वादि भैरवं रूपं ज्ञात्वानन्तप्रकाशभृत्॥८६॥

जब योगी चेतना की तीन स्थितियों से परिचित होता है तो वह चेतना के अनंत गौरव से भर जाता है। ये तीन स्थितियां है- (अ) **विश्व** (जाग्रत) - सीमित ज्ञान तथा द्वैत की वाहक स्थिति, (आ) **तेजस** (स्वप्न) - जिसमे बाह्य अनुभवों की प्रतीति होती है। (इ) **प्राज्ञ** (निद्रा) - जिसमे सब कुछ अंधकारमय है जो केवल भैरवरूप ही है।

टिप्पणियां:- १. केवल भैरवरूप का मतलब है कि यह स्थिति भी तूर्य (चेतना की चौथी अवस्था) की अभिव्यक्ति है। २. सामान्य जीवन में प्रमेय-प्रमातृ का द्वैत होता है। तूर्यावस्था में द्वैत का भाव विसर्जित हो जाता है। यह आत्मा या भैरव का प्रकाश है, इसीलिए इसे अनंत चेतना का गौरव कहते हैं। जब योगी जनता है कि तीनों स्थितियां तूर्य की ही अभिव्यक्ति है, तो वह भैरव के अनंत प्रकाश से भर जाता है। यह आणवोपाय है जो शाम्भव स्थिति तक ले जाता है।

धारणा क्रमांक ६४

एवमेव दुर्निशायां कृष्णपक्षागमे चिरम्।

तैमिरं भावयन् रूपं भैरवं रूपमेष्यति॥८७॥

इसी तरह कृष्णपक्ष की घनघोर अँधेरी रात्रि में चारों ओर छाये अन्धकार पर लम्बे समय तक ध्यान करने से योगी भैरवरूप हो जाता है।

टिप्पणियां :- १. कृष्णपक्ष की अँधेरी रात्रि में दृष्यता शून्य के करीब होती है तब वस्तुओं की भिन्नता दिखाई नहीं देती और ध्यान भंग करने के दृष्यमान साधन लुप्त होते हैं। लम्बे समय अंधेरे आकाश में ध्यान करने से व्यक्ति भय एवं रहस्य से भर कर भैरव चेतना से एक हो जाता है तब भैरव का प्रकाश प्रकट हो जाता है। यह बाहृय 'तिमिर भावना' (बाहरी अँधेरे पर खुली आँखों से ध्यान) है। यह धारणा शाक्तोपाय के अंतर्गत है।

धारणा क्रमांक ६५

एवमेव निमील्यादौ नेत्रे कृष्णाभमग्रतः।

प्रसार्य भैरवं रूपं भावयंस्तन्मयो भवेत्॥८८॥

ऐसे ही, जब अंधेरी रात्रि न हो तब भी, योगी पहले आँखें बंद कर गहन भयानक अंधेरे पर ध्यान करता है तथा बाद में भैरव के कृष्णवर्ण भयानक स्वरूप पर स्वयं के सामने आँखें खोल कर ध्यान करता है, तब वह भैरवरूप हो जाता है।

टिप्पणी:- यह छंद निमीलन से उन्मीलन समाधी में पारगमन को इंगित करता है। निमीलन समाधी के बाद उन्मीलनावस्था में भी वह समाधी में बना रहता है तथा भैरव के ध्यान से भैरवरूप हो जाता है। यह भी शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक ६६

यस्य कस्येन्द्रियस्यापि व्याघाताच्च निरोधतः।

प्रविष्टस्याद्वये शून्ये तत्रैवात्मा प्रकाशते॥८९॥

जब किसी ज्ञानेन्द्रि के कार्य में किसी बाहरी कारण से, प्राकृतिक रूप से या स्वयं के द्वारा रुकावट उत्पन्न कर दी जाती है, तो साधक अंतर्मुखी हो जाता है तथा उसका मन शून्य से एक हो कर समस्त द्वैत को अतिक्रांत कर जाता है। ऐसे में आत्मा का सत्य उजागर हो जाता है।

टिप्पणियां:- १. किसी भी इंद्री के कार्य में रूकावट होने पर उस इंद्री का बाहर के संसार से नाता टूट जाता है तथा एक खालीपन का अहसास प्रबल हो जाता है जो एक अंतर्मुखित्व उत्पन्न करता है। योगी

इस शून्य में विलीन हो जाता है, जहाँ प्रमेय-प्रमातृ का भेद नहीं होता, और योगी को तत्क्षण आत्मा का स्वरूप प्रकट हो जाता है। यह धारणा शाक्तोपाय के अंतर्गत है।

धारणा क्रमांक ६७

अबिन्दुमविसर्गं च अकारं जपतो महान्।

उदेति देवि सहसा ज्ञानौघः परमेश्वरः॥९०॥

अगर कोई 'अ' का जप बिना बिंदु अथवा बिना विसर्ग के करे, तो हे देवी, परमेश्वर के ज्ञान का वृहद निर्झर एकाएक प्रकट हो जाता है।

टिप्पणियां:- १. बिंदु यहाँ अनुस्वार (ं) के लिए कहा गया है जो किसी अक्षर के नासा से उच्चारण का प्रतीक है। विसर्ग किसी अक्षर के तुरंत बाद एक पर एक बिंदु (ः) के रूप में दर्शाया जाता है। विसर्ग प्रतीक है कि अक्षर के उच्चारण का 'ह' से अंत हो। २. 'अ' का उच्चारण अनुस्वार के साथ (अं) करने पर श्वास भीतर जाती है (पूरक) तथा विसर्ग के साथ (अः) करने पर श्वास बाहर जाती है (रेचक)। इस धारणा में 'अ' का जाप बिना बिंदु अथवा विसर्ग के करना है, अर्थात उच्चारण के समय न श्वास भीतर लेने है और न श्वास बाहर निकालना है। इसका मतलब है कि 'अ' का उच्चारण कुंभकावस्था में (श्वास रोक कर) करना है।

स्वामी लक्ष्मणजू व्याख्या में आये शब्द 'कुम्भकस्थस्य' की यहाँ अलग व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार 'कुम्भकस्थस्य' का यहाँ मतलब 'चकित मुद्रायाम स्थितस्य' है, याने योगी चकित मुद्रा में स्थित हो जाता है। इस मुद्रा में मुंह खुला रह जाता है तथा जबान पीछे रह जाती है। इस मुद्रा में 'अ' का उच्चारण न तो अनुस्वार के साथ हो सकता है और न ही विसर्ग के साथ हो सकता है। अतः मजबूरन साधक को 'अ' का उच्चारण मानसिक रूप से करना होता है।

इतने अक्षरों में मात्र 'अ' को क्यों चुना गया ? कारण इस तरह से है, प्रथमतः यह आरंभिक अक्षर है एवं अन्य अक्षरों का स्रोत है। 'अ' किसी अन्य अक्षर से उत्पन्न नहीं होता न ही यह किसी अन्य अक्षर में विलीन होता है। इस तरह यह अनुत्तर या निरपेक्ष का प्रतिनिधित्व करता है जो वर्णन से परे है। यहाँ शिव-शक्ति अभिन्न रूप से एक हैं, अतः 'अ' का उच्चारण आत्मा की, शिव-शक्ति सायुज्य से एक होने की, प्रबल इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है। तीसरी बात यह कि 'अ' का उच्चारण अहंता का प्रतिनिधित्व करता है जो शुद्ध सर्वहंता है, अतः 'अ' का ध्यान साधक को सर्वोच्च अहंता में स्थापित कर देता है।

अंत में 'अ' का उच्चारण बिना अनुस्वार अथवा विसर्ग के जब कुम्भकावस्था या चकित मुद्रा में किया जाता है तो मन निर्विकल्प हो जाता है और ऐसे में एकाएक दिव्या प्रज्ञा प्रकट हो जाती है। यह आणवोपाय है।

धारणा क्रमांक ६८

वर्णस्य सविसर्गस्य विसर्गान्तं चितिं कुरु।

निराधारेण चित्तेन स्पृशेद्ब्रह्म सनातनम्॥९१॥

जब कोई उठते हुए विचारों से मुक्त हो कर किसी अक्षर के विसर्ग के अंत पर तथा साथ ही विसर्ग पर ध्यान स्थिर करे तब पूर्णतः अंतर्मुखी होने से वह सनातन ब्रह्म से एक हो जाता है।

टिप्पणियां :- १. अभिनव गुप्त के अनुसार विसर्ग सर्वोच्च सत्ता की रचनात्मक शक्ति दर्शाता है -

अनुत्तरं परं धाम तदेवाकुलमुच्यते।

विसर्गस्तस्य नाथस्य कौलिकी शक्तिरुच्यते॥

तन्त्रालोक ३ / १४३

अनुत्तर सत्य का सर्वोच्च स्तर है, यह अकुल कहलाता है। इसकी प्राकट्य (अभिव्यक्ति) की शक्ति (विसर्ग) शिव की कौलिकी शक्ति है। शिवोपाध्याय अन्य छंद उद्धृत करते हैं जो बताता है कि विसर्ग सर्वोच्च की रचना शक्ति है और इस विसर्ग से ही सृष्टि प्रकट होती है -

अकुलस्य परा येयं कौलिकी शक्तिरुत्तमा।

स एवायं विसर्गस्तु तस्मात् जातमिदं जगत्॥

आकुल (शिव) की सर्वोच्च शक्ति कौलिकी कहलाती है। यह कौलिकी शक्ति ही विसर्ग है। विसर्ग से ही सारी सृष्टि उदित होती है। विसर्ग को किसी भी अक्षर के बाद एक पर एक स्थित बिंदु के रूप में लिखा जाता है। बोलने में यह 'ह' की तरह होता है। 'ह' का उच्चारण रचना शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। अब जब साधक अपना मन विसर्ग के अंत पर स्थिर करता है, जो सृष्टि प्राकट्य का प्रतीक है, तो उसका मन सृष्टि से विलग हो कर आसानी से शून्य में पहुँच जाता है वह ब्रह्म के मौन में स्थापित हो जाता है। यह धारणा आणवोपाय से चल कर शाक्तोपाय में समाप्त होती है।

धारणा क्रमांक ६९

व्योमाकारं स्वमात्मानं ध्यायेद्दिग्भिरनावृतम्।

निराश्रया चितिः शक्तिः स्वरूपं दर्शयेत्तदा॥९२॥

जब कोई अपनी आत्मा को असीम गगन मान कर उस पर ध्यान करता है तब चितिशक्ति (साधक का वास्तविक स्वरूप) निर्विचारावस्था में प्रकट हो जाता है।

टिप्पणियां:- १. साधक को आत्मा का ध्यान विशाल आकाश (जो किसी भी रूप, दिशाओं या सहायक रचनाओं से सीमित नहीं है) के रूप में करना चाहिए। २. मन की इस निराधार एवं निर्विचार स्थिति में चेतना की दिव्य शक्ति (चिति शक्ति) प्रकट हो जाती है। यह शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक ७०

किञ्चिदङ्गं विभिद्यादौ तीक्ष्णसूच्यादिना ततः।

तत्रैव चेतनां युक्त्वा भैरवे निर्मला गतिः॥९३॥

अगर योगी स्वयं के शरीर की किसी भी भुजा को किसी सुई से चुभो दे और ठीक उस बिन्दु पर ध्यान करे तब उस बिंदु पर, प्रबल एकाग्रता के कारण, भैरव के शुद्ध स्वरूप को पा लेता है।

टिप्पणियां:- १. चाहे सुख की प्रबल संवेदना हो या दर्द की, महत्त्व एकाग्रता का है। २. एकाग्रता में निर्विकल्प मन होते ही भैरव भाव प्रकट हो जाता है। यह धारणा आणवोपाय से आरंभ हो कर शाम्भव स्थिति तक ले जाती है।

धारणा क्रमांक ७१

चित्ताद्यन्तः कृतिर्नास्ति ममान्तर्भावयेदिति।

विकल्पानामभावेन विकल्पैरुज्झितो भवेत्॥९४॥

साधक इस तरह ध्यान करे:- "मेरे भीतर मेरा मानसिक करण (मन, बुद्धि, अहंकार) नहीं है" ऐसा चिंतन करने से वह निर्विचार हो कर शुद्ध चैतन्य में स्थापित हो जाता है।

टिप्पणियां:- १. जब साधक को पूर्ण बोध हो जाता है कि उसका वास्तविक स्वरूप अंतःकरण नहीं है जिसके द्वारा वह अब तक सतत स्वयं को पहचानता रहा है, तब मन विकल्पों का निर्माण रोक देता है। इस समय भैरव रूप प्रकट हो जाता है। यह शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक ७२

माया विमोहिनी नाम कलायाः कलनं स्थितम्।

इत्यादि धर्मं तत्त्वानां कलयन्न पृथग्भवेत्॥९५॥

माया भ्रम पैदा करने वाली है, कला का काम क्रियाशीलता को सीमित करना है (वैसे ही विद्या, राग, काल तथा नियति भी सीमित करने का काम करती हैं)। विभिन्न तत्वों के कार्यों को विचारने के बाद योगी और अलग नहीं रहता।

टिप्पणियां:- १. अभिनव गुप्त माया को इस तरह परिभाषित करते हैं-

"सर्वथैव स्वरूपं तिरोधत्ते आवर्णुते विमोहिनी सा" (ईश्वर प्रत्यभिज्ञा ६ / २ / १७)

वह (माया) आत्मा का स्वरूप को छुपा देती है, इस तरह भ्रमकारी सिद्ध होती है।

भेदे त्वेकरसे भातेऽहन्तयानात्मनीक्षिते।

शून्ये बुद्धौ शरीरे वा मायाशक्तिर्विजृम्भते॥

ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी ३ / १ / ८

माया की शक्ति ठोस विभिन्नता के रूप में स्वयं को व्यक्त करती है। यह अनात्म में आत्मानुभव के रूप में भी अपना कार्य करती है। योगी यह अच्छी तरह जानता है कि माया सभी को अपनी इच्छा से चलाती है। माया संसार को विभिन्नता के रूप में दिखाती है जो वास्तव में एक इकाई है। वह अपने कंचुकों (कला, विद्या, राग, काल एवं नियति) के द्वारा क्रियाशीलता, ज्ञान, तृप्ति, समय, अंतरिक्ष एवं कार्य-कारणत्व की सीमायें तय कर देती है। २. तत्वों के सीमित कार्यों एवं माया के भ्रमकारी प्रभाव से पूरी तरह परिचित योगी समग्रता की दृष्टि को कभी नहीं छोड़ता अतः कभी अपने आप को अलग महसूस नहीं करता। उन्मीलन समाधि के द्वारा सारी सृष्टि को वह शिव की अभिव्यक्ति की तरह देखता है। इस तरह वह एक गहरे जुड़ाव का अनुभव करता है। ३. अगर छंद को इस तरह पढ़ें -"कलयन ना

प्रथग् भवेत्" तो मतलब होगा - वह योगी सब कुछ से अलग हो कर अपने आत्म स्वरूप में स्थापित हो जाता है। यह शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक ७३

झगितीच्छां समुत्पन्नामवलोक्य शमं नयेत्।

यत एव समुद्भूता ततस्तत्रैव लीयते॥९६॥

जैसे ही एक इच्छा उत्पन्न होती है, योगी जागरूकता से उसे वहीँ समाप्त कर देता है। यह वहीँ अवशोषित हो जाती है जहाँ से उठी थी।

टिप्पणियां :- १. जब साधक का मन अंतर्मुखी हो जाता है और वह जान लेता है कि उसकी आत्मा इन इच्छाओं से पूरी तरह अलग है, इच्छाएं मन का खेल है जो (मन) आत्मा नहीं है, तब इच्छाएं उसी तरह मन में वापस समा जाती हैं जैसे लहरें समुद्र में। अगर कोई और इच्छा उत्पन्न होने लगती है तो उसका शमन करने का सर्वोत्तम तरीका है उस इच्छा से ध्यान हटा कर परम सत्य को समझने की और जागरूक हो जाना जो दो इच्छाओं के बीच उन्मना रूप से रचनात्मक स्पंद की तरह उपस्थित है। यह शाक्तोपाय है जो शाम्भवोपाय तक ले जाता है।

धारणा क्रमांक ७४

यदा ममेच्छा नोत्पन्ना ज्ञानं वा कस्तदास्मि वै।

तत्त्वतोऽहं तथाभूतस्तल्लीनस्तन्मना भवेत्॥९७॥

जब मुझमे इच्छा, ज्ञान (तथा क्रिया) उत्पन्न नहीं हुए हैं तब उस स्थिति में मैं क्या हूँ ? वास्तव में तब मैं स्वयं वही सत्य हूँ - चिदानन्द या सार्वभौम चेतना का आनंद - । इस तरह वह उस परम सत्य में समा कर तन्मय हो जाता है।

टिप्पणियां:- देह अहंकार की इच्छा ज्ञान क्रिया, सार्वभौम चेतना की इच्छा ज्ञान क्रिया नहीं है। जब साधक सार्वभौम चेतना की भावना कर उसका अभ्यास करता है जो शुद्ध चिदानंद है, तब वह सीमित अहंता से ऊपर उठ कर सार्वभौम चैतन्य में विलीन हो जाता है। यह शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक ७५

इच्छायामथवा ज्ञाने जाते चित्तं निवेशयत्।

आत्मबुद्ध्यानन्यचेतास्ततस्तत्त्वार्थदर्शनम्॥९८॥

जब कोई इच्छा ज्ञान (अथवा क्रिया) प्रकट होती है तब योगी सभी प्रमेयों (इच्छा ज्ञान के प्रमेयों) से ध्यान हटा कर शुद्ध इच्छा - ज्ञान पर आत्मा की तरह ध्यान करता है, तब उसे परम सत्य का बोध हो जाता है।

टिप्पणियां:- जब मन इच्छा या ज्ञान के प्रमेयों से हटा लिया जाता है तथा इच्छा ज्ञान को परशिव की शक्ति जान कर उनपर आत्मा की तरह ध्यान किया जाता है तो मन विकल्प मुक्त हो जाता है तथा साधक को सत्य का बोध हो जाता है। यह शाम्भवोपाय है।

धारणा क्रमांक ७६

निर्निमित्तं भवेज्ज्ञानं निराधारं भ्रमात्मकम्।

तत्त्वतः कस्यचिन्नैतदेवंभावी शिवः प्रिये॥९९॥

सारा ज्ञान अकारण, निराधार तथा कपटपूर्ण है। निरपेक्ष सत्य के दृष्टिकोण से यह ज्ञान किसी व्यक्ति की संपत्ति नहीं है। जब कोई गहराई से यह चिंतन करता है तब हे प्रिये वह शिव हो जाता है।

टिप्पणियां:- १. भावना वह उपकरण है जिसके द्वारा सत्य के केंद्र (हृदय) में पहुंचा जा सकता है। अभिनव गुप्त तन्त्रालोक में इसे "सर्वात्म संकोच" कहते हैं (तं. ५ / ७१)। जयरथ अपनी व्याख्या में इस छंद को "सर्वात्म संकोच" के उदाहरण के रूप में उद्धृत करते हैं। इसमें सभी 'बाह्य' का परित्याग कर दिया जाता है तथा अपने स्वयं में निमीलन समाधि (Ecstasy with eyes closed) के द्वारा प्रवेश किया जाता है। प्रत्येक प्रमेय के सत्य को तथा प्रमेय से प्रमातृ के सम्बन्ध को नकार दिया जाता है (कस्यचिन नैतद्)। २. इस तरह ज्ञाता तथा ज्ञेय दोनों को त्याग दिया जाता है। मात्र ज्ञान (या विज्ञान) बचता है जो भैरव है। विज्ञान सभी प्रमातृता एवं प्रमेयता का आधार है। यही परम सत्य है। यह शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक ७७

चिद्धर्मा सर्वदेहेषु विशेषो नास्ति कुत्रचित्।

अतश्च तन्मयं सर्वं भावयन्भवजिज्जनः॥१००॥

एक ही आत्मा जिसका अभिलक्षण चेतना है, सभी शरीरों में स्थित है, इनमे कहीं भी कोई भिन्नता नहीं है। जब व्यक्ति यह जानता है कि सार रूप में सब कुछ एक ही (चेतना) है, वह विजयी हो कर संसार चक्र से ऊपर उठ जाता है।

टिप्पणियां:- १. क्षेमराज ने शिवसूत्र के प्रथम सूत्र की व्याख्या में इस छंद को उद्धृत किया है तथा सुनिश्चित निरूपण किया है कि चैतन्य का मतलब मात्र ज्ञान नहीं है वरन स्वस्फूर्त क्रिया (Autonomous activity) भी है। २. जो व्यक्ति यह जानता है कि आत्मा (स्व), जिसका अभिलक्षण चेतना है, सदाशिव से लेकर एक छोटे से कीड़े तक में अभिन्न रूप से एक ही है, वह व्यक्ति परम सत्य से एक हो कर समता की चेतना (सार्वभौम चेतना से अभिन्नता) प्राप्त कर लेता है। अतः वह मुक्त है एवं जीवन मृत्यु से छूट जाता है। यह शाम्भवोपाय है।

धारणा क्रमांक ७८

कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यगोचरे।

बुद्धिं निस्तिमितां कृत्वा तत्तत्त्वमवशिष्यते॥१०१॥

जिस समय व्यक्ति इच्छा, क्रोध, लालच, आसक्ति, हेकड़ी, इर्ष्या (अरिषड्वर्ग) के बीच अपने मन को स्थिर (एकाग्रचित्त) रखने में सफल हो जाता है, तब इन स्थितियों के बीच दबा सत्य जीवंत हो उठता है।

टिप्पणियां:- जब साधक किसी भावना के तीव्र आवेग से आवेशित हो, तब उसने अपने मन को भावना के आधार प्रमेय से मुक्त कर लेना चाहिए तथा शुद्धरूप से 'भावना' मात्र (क्रोध, इर्ष्या आदि) पर ध्यान करना चाहिए। ऐसे समय उसे उस भावना से दूरी बना लेनी चाहिए याने न तो भावना को स्वीकार करना चाहिए न ही त्यागने का प्रयास करना चाहिए, बस भावना मात्र पर ध्यान करना है। साधक को चाहिए कि वह सारे बाह्य प्रमेयों से मन को समेट ले जैसे कछुवा खतरे को भांप कर अपनी भुजाएं अपने भीतर समेट लेता है। जब वह गहराई से अंतर्मुखी हो जाता है तब जुनून शांत हो जाता है जैसे प्रसन्न किये जाने के बाद सर्प शांत हो जाता है। सारे विकल्प ऐसे गिर जाते है जैसे हेमंत ऋतु में पेड़ों से पत्ते। ऐसे

एकाएक अंतर्मुखी होने से साधक अनंत अध्यात्मिक उर्जा के संपर्क में आ जाता है जो स्पंद के रूप में भीतर उमड़ रही है। यहाँ योगी चिदानंद से भर जाता है। यह शाम्भवोपाय है।

धारणा क्रमांक ७९

इन्द्रजालमयं विश्वं व्यस्तं वा चित्रकर्मवत्।

भ्रमद्वा ध्यायतः सर्वं पश्यतश्च सुखोद्गमः॥१०२॥

अगर कोई सृष्टि को किसी जादूगर के इंद्रजाल की तरह देखता है अथवा जैसे चलती गाड़ी में पेड़ भागते प्रतीत होते हैं, वैसे भ्रम की तरह देख कर गहराई से चिंतन करता है तो उसे महान आनंद की प्राप्ति होती है।

टिप्पणियां:- जयरथ ने अपनी व्याख्या (तन्त्रालोक ५ / ७१) में इस छंद को "सर्वात्म संकोच" के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। यह शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक ८०

न चित्तं निक्षिपेद्दुःखे न सुखे वा परिक्षिपेत्।

भैरवि ज्ञायतां मध्ये किं तत्त्वमवशिष्यते॥१०३॥

हे देवी भैरवी, न तो योगी को अपना चित्त दुःख से लिप्त करना चाहिए न सुख से। जो सत्य दोनों के बीच (दो विरोधी ध्रुवों के बीच) प्रकट होता है, उसे जानना चाहिए।

टिप्पणियां:- सुख एवं दुःख दोनों अंतःकरण के अभिलक्षण हैं। आत्मा वह है जो सुख दुःख के विरोधी जोड़ों से परे है, दोनों से निःस्पृह रहती है तथा बिना लिप्त हुए दोनों की साक्षी है। योगी को इसी पर ध्यान करना चाहिए जो उसकी वास्तविक पहचान है। यह शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक ८१

विहाय निजदेहास्थां सर्वत्रास्मीति भावयन्।

दृढ़ेन मनसा दृष्ट्या नान्येक्षिण्या सुखी भवेत्॥१०४

अपने शरीर से अहंता (जुड़ाव) हटाने के बाद योगी को चाहिए कि वह स्थिरचित्तता से किसी भी प्रमेय की अपेक्षा से रहित यह ध्यान करे कि स्वयं सर्वव्यापी है। ऐसा करने से वह दिव्य सुख प्राप्त करता है।

टिप्पणियां:- १. इस धारणा में दो बातें हैं एक ऋणात्मक एवं एक धनात्मक। ऋणात्मक है "मैं शरीर नहीं हूँ न ही मैं समय या अन्तरिक्ष की सीमाओं से बंधा हूँ" तथा धनात्मक बात है "मैं सर्वव्यापी हूँ"। इस धारणा से योगी शिव - शक्ति से एक हो जाता है तथा सर्वभौम चेतना को पा लेता है। ७७ वीं धारणा में योगी यह भावना करता है कि सभी शरीरों एवं रूपों में वही चेतना प्रकट है। वर्तमान ८१ वीं धारणा में योगी स्वयं की चेतना को सभी प्राणियों में विकसित होते देखता है। उसकी स्वयं की चेतना समस्त जीवों में फैल जाती है।

शिवोपाध्याय अपनी व्याख्या में धारणा ७७ एवं वर्तमान धारणा ८१ के बीच एक और अंतर की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। वर्तमान धारणा में भावना है "सर्वम् इदम् अहम्" यह सब कुछ मैं हूँ जो ईश्वर चेतना है। ७७ वीं धारणा में चेतना की सर्वव्यापकता बताई गयी थी याने शिवस्तर का सन्दर्भ लिया गया था जबकि वर्तमान धारणा में ईश्वर या सदाशिव के स्तर को प्राप्त किया गया है। यह शाक्तोपाय है।

धारणा क्रामांक ८२

घटादौयच्च विज्ञानमिच्छाद्यं वा ममान्तरे।

नैव सर्वगतं जातं भावयन्निति सर्वगः॥१०५॥

ज्ञान, इच्छा आदि मात्र मुझमें ही पैदा नहीं होते, ये सभी जगह घट आदि में भी पैदा होते हैं। ऐसा ध्यान करने से योगी सर्वव्यापकता प्राप्त कर लेता है।

टिप्पणियां: - इस छंद में इच्छा का सन्दर्भ क्रिया से है। यह छंद बताता है कि ज्ञान एवं क्रिया पर मानवमात्र का एकाधिकार नहीं है। ज्ञान एवं क्रिया सार्वभौम हैं अतः सृष्टि की हरेक वस्तु में हैं। यह धारणा बताती है कि योगी यदि ज्ञान एवं क्रिया का सारे अस्तित्व में ध्यान करे तो वह एकता की चेतना प्राप्त कर लेता है। सामान्यतः मनुष्य सोचता है कि उसमें स्वयं में एवं वृक्ष अथवा घट में कुछ भी समानता नहीं है लेकिन यदि उसे अहसास हो जाये कि ज्ञान एवं क्रिया सारी अभिव्यक्ति में समान रूप से हैं, यह दिव्य उपहार सबको समान रूप से मिला है तो वह अपने आप को अलग समझना बंद कर सबसे एकता का अनुभव करेगा। यह धारणा शाक्तोपाय है।

अभिनव गुप्त इश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शनी में कहते हैं: -

"प्रकाश एवास्ति स्वात्मनः स्वपरात्मभिः" (ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शनी १ / १ / ५)

एक ही आत्मा है जो मेरी अपनी आत्मा है और वही सबकी आत्मा है। इस सन्दर्भ में अभिनव गुप्त सोमानंद की शिवदृष्टि का उदाहरण देते हैं: -

घटो मदात्मना वेत्ति वेद्म्यहमं च घटात्मना।

सदाशिवात्मना वेद्मि स वा वेत्ति मदात्मना॥

नाना भावैः स्वमात्मानं जानन्नास्ते स्वयं शिवः।

जब मैं घट को जानता हूँ तो उससे अभिन्न हो जाता हूँ। घट को जानना ही घट से अभिन्न हो जाना है। मैं सदाशिव को जानता हूँ और सदाशिव मेरी तरह ही जानते हैं। वह तो शिव ही है जो समस्त अस्तित्व के द्वारा स्वयं को जान रहा है।

इस उद्दरण के बाद अभिनव गुप्त अंत में यह टिपण्णी करते हैं: - "जो लोग तार्किकों के तर्कों से दूषित नहीं हुए हैं वे जब स्वात्मा की ईश्वर से अभिन्नता को जान जाते हैं तब वे ईश्वर में समा जाते हैं। वे सारी सृष्टि को शिव में विलीन कर देते हैं।"

इसके बाद छंद संख्या १०६ है जिसमे कोई धारणा नहीं दी गयी है। इसमें योगी के विशिष्ट अभिलक्षण बताये गए हैं। यह छंद पूर्ववर्ती धारणाओं में व्यक्त विचारों की पुष्टि करता है।

छंद १०६

ग्राह्य ग्राहक संवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम्।

योगिनां तु विशेषोऽस्ति सम्बन्धे सावधानता॥१०६॥

सारे शारीरधारियों में प्रमेय एवं प्रमातृ चेतना अभिन्न है। योगीयों की यह विलक्षणता होती है कि वे इस अभेद के सम्बन्ध के प्रति जागरूक होते हैं।

टिप्पणियां: - प्रमेय सदा प्रमातृ से जुड़ा है। इस रिश्ते के बिना प्रमेय का कोई अस्तित्व नहीं है। साधारण मनुष्य प्रमेय में खो जाता है और स्वयं की आत्मा प्रमातृ चेतना को भूल जाता है। वास्तविक ज्ञाता साक्षी चेतना है जिससे ज्ञाता प्रकट होता है तथा पुनः उसी में विश्राम लेता है। योगी सदा जागरूक रहता है कि वह साक्षी चैतन्य है।

धारणा क्रमांक ८३

स्ववदन्यशरीरेऽपि संवित्ति मनुभावयेत्।

अपेक्षां स्वशरीरस्य त्यक्त्वा व्यापी दिनैर्भवेत॥१०७॥

अपने शरीर की अपेक्षा त्याग कर यह चिंतन करना चाहिए कि जो चेतना मेरे शरीर में है वही चेतना संसार के सारे शरीरों में है। इस तरह कुछ ही समय में वह सर्वव्यापी हो जाएगा।

टिप्पणियां: - चेतना को विमर्श करने के लिए शरीर आवश्यक नहीं है। सभी व्यक्तियों को शरीर से हट कर भी चेतना का अनुभव होता है। स्वप्न में व्यक्ति को चेतना का अनुभव होता है जो स्थूल शरीर पर निर्भर नहीं है। गहरी निद्रा में व्यक्ति को सूक्ष्म शरीर से भी हट कर चेतना का अनुभव होता है। चौथी या तुरीय अवस्था में व्यक्ति को कारण शरीर से भी हट कर चेतना का अनुभव होता है। अतः यह स्पष्ट है कि चेतना के लिए शरीर आवश्यक माध्यम नहीं है। व्यक्तिगत अनुभव से यह जान कर योगी चिंतन करता है कि उसकी चेतना उसके शरीर तक सीमित नही है वरन सर्वव्यापी है। इस तरह साधक चेतना की सर्वव्यापकता का बोध पा लेता है जो भैरव स्थिति है। यह शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक ८४

निराधारं मनः कृत्वा विकल्पान्न विकल्पयेत्।

तादात्मपरमात्मत्वे भैरवो मृगलोचने॥१०८॥

मन को सारे आधारों से मुक्त कर योगी को चाहिए कि वह विचार क्रम से दूर हो जाये। तब हे मृगनैनी जीवात्मा में भैरव स्थिति हो जाएगी जो परमात्मा (सार्वभौम चेतना) की स्वतंत्र स्थिति है।

टिप्पणियां: - १. सारे आधारों से तात्पर्य है दोनों - बाहरी आधार जैसे कोई वस्तु अथवा भीतरी आधार जैसे कोई कल्पना, धारणा, सुख-दुःख आदि। २. योगी को चाहिए कि वह विकल्पों से पूर्णतः मुक्त हो। सविकल्प (वैचारिक गतिविधि युक्त) स्थिति मानसिक वैयक्तिक्ता (Psychological Self) की है। निर्विकल्प अवस्था (बिना द्वैत विचारों के चेतना की स्थिति) आत्मा की समष्टि चेतना की स्थिति है, जो सृष्टि की समग्रता की साक्षी है। यह शाम्भवोपाय है।

धारणा क्रमांक ८५

सर्वज्ञः सर्वकर्ता च व्यापकः परमेश्वरः।

स एवाहं शैवधर्मा इति दाढ़र्याद्भवेच्छिवः॥१०९॥

सर्वोच्च परमेश्वर सर्वज्ञ, सर्वकर्ता तथा सर्वव्यापक हैं। मैं चूँकि शिवधर्म से युक्त हूँ अतः मैं शिव हूँ। इस दृढ़ भावना से योगी शिवस्वरूप हो जाता है।

टिप्पणियां:- यह धारणा प्रत्यभिज्ञा के प्रथम स्तर की है। सार रूप से व्यक्ति शिव ही है। परम सत्य (शिव) ने स्वयं पर जिव का मुखौटा चड़ा लिया है। जब जीव तीव्रता पूर्वक अपने सत्य को पहचानता है, तब यह मुखौटा उतर जाता है। विलय (तिरोधान) समाप्त हो जाता है और अनुग्रह पा कर जीव शिव हो जाता है जो उसका अनिवार्य स्वरुप था ही। यह शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक ८६

जलस्येवोर्मयो वह्नेर्ज्वालाभङ्ग्यः प्रभा रवेः।

ममैव भैरवस्यैता विश्वभङ्ग्यो विभेदिता॥११०॥

जैसे लहरें जल से उत्पन्न होती हैं, लपटें अग्नि से उत्पन्न होती हैं, किरणें सूर्य से उत्पन्न होती हैं वैसे ही विभिन्नता भरी सृष्टि मुझ भैरव से उत्पन्न होती है।

टिप्पणियां: - यह धारणा प्रत्यभिज्ञा के द्वितीय स्तर की है। प्रथम स्तर की प्रत्यभिज्ञा में जीव को शिवरूप से पहचाना जाता है याने जीवात्मा को विश्वात्मा के रूप में जाना जाता है। प्रथम स्तर की धारणा (धारणा क्रमांक ८५, छंद १०९) में दी गयी है। द्वितीय स्तर में यह बोध होता है कि इस सारी अभिव्यक्ति का गौरव मेरा ही है, इस्म्र सृष्टि की आत्मा से अभिन्नता जानी जाती है। वर्तमान छंद में इसी दूसरे स्तर की प्रत्यभिज्ञा वर्णित है। यह शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक ८७

भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा शरीरेण त्वरितं भुवि पातनात्।

क्षोभशक्तिविरामेण परा संजायते दशा॥१११॥

जब कोई तेजी से लगातार गोल गोल घूमता है तथा धरती पर गिर जाता है, तब उस कोलाहल की शक्ति के समाप्त होने पर सर्वोच्च दशा प्रकट हो जाती है।

धारणा क्रमांक ८८

आधारेष्वथवाऽशक्त्याऽज्ञानाच्चित्तलयेन वा।

जातशक्तिसमावेश क्षोभान्ते भैरवं वपुः॥११२॥

अगर ज्ञान के लक्ष्यों को समझने की अक्षमता या मात्र अज्ञान के कारण मन अनाश्रित शक्ति में विलीन हो जाता है, तब इस विलीनीकरण के कारण उत्पन्न कोलाहल के शांत होने पर भैरव का स्वरुप प्रकट हो जाता है।

छंद १११ एवं ११२ (धारणा ८७ - ८८) पर टिप्पणियां: - दोनों छंदों में प्रबल कोलाहल के बाद मन की स्थिति का वर्णन है। छंद १११ में यह कोलाहल भौतिक कारण (शरीर के घूर्णन) की वजह से आता है, जबकि छंद ११२ में यह कोलाहल बौद्धिक गतिरोध के कारण आता है। जब मन का प्रबल मंथन होता है, चाहे वह भौतिक कारणों से हो चाहे जिद्दी जिज्ञासाओं एवं शंकाओं के कारण हो, तो इस अस्थायी हलचल के शांत होने पर सामान्य मन एकदम स्थिर हो जाता है, विकल्प थम जाते हैं तथा उच्च स्तर से सत्य का अवतरण हो जाता है। इस क्षण भैरव स्वरुप प्रकट हो जाता है। छंद १११ धारणा ८७ में शाम्भवोपाय है जबकि छंद ११२ धारणा ८८ शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक ८९

सम्प्रदायमिमं देवि शृणु सम्यग्वदाम्यहम्।

कैवल्यं जायते सद्यो नेत्रयोः स्तब्धमात्रयोः॥११३॥

संकोचं कर्णयोःकृत्वा ह्यधोद्वारे तथैव च।

अनच्कमहलं ध्यायन्विशेद्ब्रह्म सनातनम्॥११४॥

हे देवी! सुनो मैं तुम्हे यह रहस्यमय परम्परा विस्तार से बताता हूँ। अगर आंतरिक सत्य पर अपलक ध्यान किया जाये तो तुरंत कैवल्य प्राप्त होता है। कर्णद्वारों को संकुचित कर तथा उसी तरह गुदाद्वार एवं लिंगद्वार को संकुचित कर अनच्क (आंतरिक अनाहत ध्वनि) पर (जो स्वर एवं व्यंजन से रहित है),

ध्यान करने से साधक ब्रह्म में प्रवेश करता है।

टिप्पणियां: - **"स्तब्धमात्रयोःनेत्रेयोः"** से तात्पर्य भैरवी या भैरव मुद्रा से है, जिसमे ऑखें बाहर अपलक खुली रहती हैं, लेकिन ध्यान आंतरिक चेतना पर रहता है। ऐसी स्थिति में साधक विकल्पहीन हो जाता है तथा शिव से एक हो जाता है।

क्षेमराज ने स्वच्छंदतंत्र की उद्योत व्याख्या में यह छंद उद्दत किया है तथा इस तरह उसका अर्थ निर्धारित किया है: -

निर्लक्ष्यस्तब्धदृष्टिबन्धः शान्तो विगलिताभिलाषप्रक्षीण सकल विकल्पजालः।

भैरव मुद्रा द्वारा बाहय दृष्य का तिरस्कार करने के बाद साधक इच्छाओं और विकल्पों के नष्ट होने से शान्ति का आनंद लेता है।

शैव दर्शन द्वारा अनुसंशित कैवल्य सांख्य योग के कैवल्य से भिन्न है। सांख्य में द्वैत भावना है कि पुरुष एवं पृकृति में कुछ भी समान (Common) नही है अतः कैवल्य का सांख्य में तात्पर्य प्रकृति से, अतः पूर्ण ब्रहमाण्ड से, अलगाव है। शैवदर्शन में कैवल्य का मतलब है साधक की चेतना एवं सृष्टि के बीच की भिन्नता का विलीन हो जाना। चूँकि साधक की चेतना कैवल्य के समय शिव से अभिन्न हो जाती है अतः पूर्ण विश्व शिव ही हो जाता है।

अनुभव में न आने वाला, सुनाई न देने वाला अनाहत नाद जो बिना स्वर या व्यंजन के शुद्ध बिंदु रूप (ं) होता है वह शिव का प्रतिनिधि है। अश्रव्य ध्वनि, बिना स्वर या व्यंजन के शुद्ध विसर्ग (ः) है जो शक्ति का प्रतिनिधि है। चूँकि आंतरिक ध्वनि अनाहत है जो सुनी नही जा सकती तथा बिना स्वर या व्यंजन के उच्चारित भी नही की जा सकती अतः इस पर मात्र ध्यान किया जा सकता है। यह ध्यान जीवात्मा को शिव तक ले जाता है।

इस अभ्यास के द्वारा योगी सनातन ब्रहम अर्थात् शब्द ब्रहम में प्रवेश करता है जो समस्त ध्वनि का उद्गम है और इस तरह समस्त प्राकट्य का भी आरम्भ हो कर समस्त भिन्नता से ऊपर सनातन रूप से स्थित है। उक्त धारणा के अभ्यास से योगी आश्चर्यजनक शक्ति प्राप्त करता है, जिससे वह ब्रहम में प्रवेश करता है जो शिव शक्ति का संघट्ट हो कर आनंद एवं स्वातंत्र्य रूप है। यही बात परात्रिंशिका में अभिनव गुप्त ने कही है: - **परब्रहममय शिव शक्ति संघट्टानन्दस्वातंत्र्य सृष्टि पराभट्टारिकारूपेऽनुप्रवेशः।** यह धारणा शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक ९०

कूपादिके महागर्ते स्थित्वोपरि निरीक्षणात्।

अविकल्पमतेः सम्यक् सद्यश्चित्तलयः स्फुटम्॥११५॥

अगर कोई बहुत गहरे कुए की मुंडेर पर खड़ा होता है तथा अपलक कुए के अन्तरिक्ष में ध्यान करता है तो उसकी मति विकल्पहीन हो जाती है। क्षण भर में साधक स्वयं के चित्त को विलीन होते महसूस करता है।

टिप्पणियां: - अगर योगी लम्बे समय कुए के अन्तरिक्ष में अथवा पर्वतशिखर से नीचे देखता है तो उसे डर या चक्कर की अनुभूति होती है। इस स्थिति में यदि साधक की मति (Intuitive understanding) का विकास हो चुका है तो स्पंद के द्वारा उसकी सामान्य चेतना से वह दूर कर दिया जाता है तथा विकल्पहीन हो जाता है। क्षणभर में ही उसकी सामान्य चेतना उच्चतर चेतना में विलीन हो जाती है और वह अभूतपूर्व शान्ति का अनुभव करता है। यह शाम्भावोपाय है।

धारणा क्रमांक ९१

यत्र तत्र मनो याति बाह्येवाभ्यन्तरेऽपि वा।

तत्र तत्र शिवावस्था व्यापकत्वात् क्व यास्यति॥११६॥

जहाँ कहीं भी मन जाता है, चाहे बाहर या भीतर, हर जगह शिवावस्था है। चूँकि शिव सर्वव्यापी हैं, मन शिव को छोड़ कर कहाँ जा सकता है।

टिप्पणियां: - छंद के दो पहलू हैं, एक तात्विक एवं एक रहस्यवादी। तात्विक पहलू का मत है कि सृष्टि में सब कुछ, प्रमातृ अथवा प्रमेय, शिव ही हैं। रहस्यवादी मत है कि चूँकि सब कुछ शिव है, साधक को व्याकुल नहीं होना चाहिए कि वह रहस्यमय सार्वभौम सत्य पर ध्यान एकाग्र करने में सक्षम नहीं हो पा रहा है। जो कुछ भी मन को आकर्षित कर रहा है, चाहे कोई बाहरी वस्तु, सौन्दर्य अथवा भीतरी भावना, विचार आदि हो, साधक दृढ़ता से विश्वास करता है कि ये सब शिव ही हैं और इन पर ही ध्यान करना है। परिणाम आश्चर्यजनक होते हैं। जिस किसी भाव या वास्तु पर ध्यान किया जा रहा है, वह शिव से अभिन्न हो जाती है। इस तरह समस्त विश्व सार्वभौम चेतना से एक हो जाता है तथा साधक को अक्रम अंतर्ज्ञान हो जाता है। सारे विकल्प शांत हो जाते है। यही भाव स्पन्दकारिका (२ / ३-४-५) में भी बताया गया है। यह शाक्तोपात है।

धारणा क्रमांक ९२

यत्र यत्राक्षमार्गेण चैतन्यं व्यज्यते विभोः।

तस्य तन्मात्रधर्मित्वाच्चिल्लयाद्भरितात्मता॥११७॥

हर उस अवसर पर जब ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सर्वव्यापी चेतना उजागर होती है, योगी सर्वोच्च चेतना पर ध्यान करता है क्योंकि चेतना की हर अभिव्याक्ति सार्वभौम चेतना का ही अभिलक्षण है। इस तरह उसका मन सार्वभौम चेतना में विलीन हो जायेगा एवं उसे निरपेक्ष का अनुभव होगा जो भैरव है।

टिप्पणियां: - सामान्यतः ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त प्रत्येक संवेदना को उस सम्बंधित ज्ञानेन्द्रि का अभिलक्षण समझा जाता है। यह धारणा कहती है कि हर संवेदना, चाहे वह बाहरी हो अथवा आतंरिक हो, को भौतिक वस्तु मत मानो वरन सार्वभौम चेतना की अभिव्यक्ति की तरह देखो। ज्ञान के इसी प्रकाश में सारी संवेदनाओं की प्रतीति साधक करता है। जैसे दर्पण में प्रतिबिंबित विभिन्न वस्तुएं दर्पण से अभिन्न होती हैं, वैसे ही यह विभिन्नता भरा संसार सार्वभौम चेतना से अभिन्न है। सार्वभौम चेतना से हट कर संसार का कोई अस्तित्व नही है। जब योगी समस्त अभिव्यक्ति को इस तरह से ध्यान में लाता है तो उसका चित्त सार्वभौम चेतना में विलीन हो जाता है तथा वह भैरव भाव प्राप्त कर लेता है। यह शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक ९३

क्षुताद्यन्ते भये शोके गह्वरे वा रणाद्द्रुते।

कुतूहले क्षुधाद्यन्ते ब्रह्मसत्तामयी दशा॥११८॥

छींक के आरम्भ तथा अंत के समय, भय में, शोक में, आह भरते समय, युद्ध क्षेत्र में लड़ते समय, प्रबल जिज्ञासा में, भूख के आरम्भ एवं अंत में जो स्थिति होती है वह भैरव दशा है।

टिप्पणियां: - शब्द गह्वर का मतलब गुफा भी होता है तथा गहरी आह भी होता है। चूँकि यहाँ अधिकतर मनोभौतिक अवस्थाओं का सन्दर्भ है अतः गहरी आह अर्थ करना उचित प्रतीत होता है। चाहे यह कोई मामूली भूख, छींक इत्यादि हों चाहे प्रबल आतंक, तीव्र जिज्ञासा अथवा रणभूमि से पलायन जैसी स्थिति हो, सामान्य चेतना को एक तीव्र झटका लगता है और चेतना गहरे उतर कर अपने स्रोत स्पंद के स्तर पर आ जाती है। यह एक क्षणिक अवस्था है, लेकिन यदि साधक जागरूक है तो वह इस पर स्थिर हो जाता है। इसी क्षण से साधक का जीवन बदल जाता है। वह आध्यात्म के अनुकूल जीवन जीने लगता है।

उसकी ऊर्जाएं सीमितता दायरे से निकल कर चेतना की गहराइयों में उतर जाती है। अगर कोई इस क्षणिक घटना को पकड़ ले तो वह जीवन को उच्चतर स्तर पर जीने लगता है। अगर वह इस अवसर के प्रति उदासीन है तो अवसर चूक जाता है। स्पंदकारिका में भी ऐसी ही एक स्थिति बताई गयी है: -

अतिक्रुद्धः प्रहृष्टोवा किं करोमीति वा मृशन।

***धावन्वा यत्पदं गच्छेत्तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः॥* (१ / २२)**

जब कोई अतिक्रुद्ध हो, अतिहर्षित हो, दुविधा की कठिन स्थिति में हो, जब कोई कर्तव्य नहीं सूझ रहा हो अथवा जीवन रक्षा के लिए भागना पड़ रहा हो तब मन की अतितीव्र उत्तेजित अवस्था में मन स्पंद में स्थापित हो जाता है। यह शाम्भवोपाय है।

धारणा क्रमांक ९४

वस्तुषु स्मर्यमाणेषु दृष्टे देशे मनस्त्यजेत्।

स्वशरीरं निराधारं कृत्वा प्रसरति प्रभुः॥११९॥

जब किसी भूमि को देख कर साधक अपने अनुभूत प्रमेयों को भूल जाता है (मात्र उस अनुभव पर ध्यान करता है जो उस स्मृति का आधार है) तथा शरीर को निराधार बना लेता है तब प्रभु प्रकट हो जाते हैं। परमेश्वर अनुभव के रूप में स्मृति का आधार हैं।

टिप्पणियां: - किसी वस्तु का स्मरण आने पर साधक उस स्मृति का तिरस्कार कर उस अनुभव पर ध्यान करता है जो स्मृति का आधार है। साथ ही साधक स्वयं को मानसिक तौर पर शरीर से अलग कर लेता है। यहाँ शरीर से तात्पर्य उस मनोभौतिक संरचना से है जिसमें स्मृतियाँ एवं उनके प्रभाव संग्रहित होते हैं। इस स्थिति में साधक का मन अहंचेतना से मुक्त हो जाता है तथा वासनाओं (Residual impressions) से भी मुक्त हो कर अपने मूल स्वरूप चैतन्य (शुद्ध अनुभव रूप) में स्थित हो जाता है जो भैरव की स्थिति है। यह शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक ९५

क्वचिद्वस्तुनि विन्यस्य शनैर्दृष्टिं निवर्तयेत्।

तज्ज्ञानं चित्तसहितं देवि शून्यालयो भवेत्॥१२०॥

हे देवी ! अगर कोई किसी वस्तु पर दृष्टि डालने के उपरांत उस पर से ध्यान हटा कर धीमे धीमे उस वस्तु का ज्ञान तथा उससे उत्पन्न विचार एवं प्रभाव को विलीन कर देता है तो वह शून्य में स्थित हो जाता है।

टिप्पणियां: - वस्तु का ज्ञान एवं उसके प्रभाव को हटाने के लिए साधक के पास दो तरीके हैं- १. शून्य भवना के द्वारा एवं २. भैरवी मुद्रा के द्वारा।

१. शून्य भावना वह चिंतन है जिसमे संसार की पदार्थहीन शून्य रूप में भावना की जाती है। जब सारा संसार शून्य है ऐसा विश्वास किया जाता है तो संसार की कोई भी वस्तु शून्य हो जाती है।

२. भैरवी मुद्रा वह मुद्रा है जिसमे ऑखें बाहर खुली रख कर योगी संसार को अपलक निहारता है तथा ध्यान भीतर स्थित अपनी अनिवार्य चेतना पर होता है। यहाँ योगी ऑखें खुली रख कर भी बाहरी संसार को नहीं देखता। यह धारणा निर्देश देती है कि साधक को मात्र अपने अनिवार्य स्वरूप पर ध्यान करना है तथा बाहरी स्वरूपों से ध्यान हटा लेना है ताकि वह बाहरी संसार की पकड़ से मुक्त हो सके। यह शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक ९६

भक्त्युद्रेकाद् विरक्तस्य यादृशी जायते मतिः।

साशक्तिः शाङ्करी नित्यं भावयेत्तां ततःशिवः॥१२१॥

संसार से विरक्त भक्ति के प्रबल उद्रेक के मध्य भक्त में जो मति, अन्तर्चेतना (intuition) के रूप में प्रकट होती है उसे शंकर की शक्ति कहते हैं। साधक इस पर नित्य ध्यान कर स्वयं शिव हो जाता है।

टिप्पणियां: - जो संसार की वासनाओं से विरक्त भगवान का भक्त है उसे अन्तर्प्रज्ञा से सत्य का ज्ञान प्राप्त होता है। यहाँ मति का मतलब है सक्रिय आध्यात्मिक अंतर्ज्ञान। मति शिव की कल्याणकारी शक्ति से परिपूर्ण होती है जो अक्रम रूप से विरक्त भक्त को प्राप्त होती है और भक्त का जीवन बदल कर उसे पवित्र कर देती है। इसीलिए यह धारणा मति पर ध्यान करने का कहती है।

इस धारणा में चार स्तर हैं :- १. साधक द्वारा जीवन मूल्यों को पुनः स्थापित करना जहाँ इन्द्रियजन्य सुखों एवं तुच्छ संसारिक आभूषणों से उसका मोह भंग हो, २. साधक परमेश्वर का अनन्य भक्त हो, ३. उक्त दो साधनों से जब भक्त का मन शुद्ध हो जाता है तब मति का उद्भव होता है जो अध्यात्मिक अंतर्ज्ञान है। इस ज्ञान में जीवन को बदलने की शक्ति होती है। यह (मति) अध्यात्मिक राह की समस्त

बाधाओं को दूर कर देती है। ४. साधक को इस मति पर नित्य ध्यान करना चाहिए। ऐसा करने पर साधक का चित्त पूरी तरह शिव में विलीन हो जाता है।

यहाँ यह समझना आवश्यक है कि भक्ति का मतलब पुष्प, धुप, नैवेद्य अर्पण आदि तक सीमित नहीं है, वरन भक्ति का मतलब सर्वत्र परमेश्वर के दर्शन करना तथा स्वयं को, संसार में रहते हुए, परमेश्वर को अर्पण करना है। यह समस्त कार्यों को ईश्वरार्पण करने से ही संभव हो सकता है। यह शाम्भवोपाय है।

धारणा क्रमांक ९७

वस्त्वन्तरे वेद्यमाने सर्ववस्तुषु शून्यता।

तामेव मनसा ध्यात्वा विदितोऽपि प्रशाम्यति॥१२२॥

जब कोई व्यक्ति किसी एक वस्तु पर ध्यान केन्द्रित करता है तब सारी अन्य वस्तुओं के प्रति शून्यता स्थापित हो जाती है। जब कोई इस शून्यता पर विचारशून्य हो कर ध्यान करे तब, हालाकि ध्यान में लायी गयी वस्तु अभी भी महसूस हो रही है, साधक को पूर्ण शांति का अनुभव होता है।

टिप्पणियां: - जब साधक निर्विचार हो कर शून्य पर ध्यान करता है, तब मात्र चैतन्य का प्रकाश होता है। वहां उसका ध्यान भंग करने हेतु कोई वस्तु नहीं है, परिणामतः उसका भेद प्रधान मन स्थिर हो जाता है। भिन्नता का अहसास विलीन हो जाता है। वह जिस एक वस्तु को आरम्भ से ही देख रहा है, वह अभी भी दिखाई दे रही है तथापि भिन्नता के जनक मन के शांत हो जाने से साधक दिव्य शान्ति का अनुभव करता है।

हलाकि इस धारणा में एवं धारणा क्रमांक ९५ / छंद क्रमांक १२० में कुछ समानता है तथापि एक विशेष अंतर है। धारणा ९५ में व्यक्ति एक वस्तु को अपने दृष्टि क्षेत्र में ला कर धीमे से उस वस्तु की शून्यता पर ध्यान कर वस्तु से ध्यान हटा लेता है साथ ही उस वस्तु से उत्पन्न मानसिक प्रतिक्रियाओं से भी ध्यान हटा लेता है। जबकि वर्तमान धारणा क्रमांक ९७ में एक वस्तु को दृष्टि में ला कर शेष संसार की शून्यता पर ध्यान करता है। दोनों धारणाएं ९५ एवं ९७ शाक्तोपाय हैं।

धारणा क्रमांक ९८

किंचिज्ज्ञैर्या स्मृता शुद्धिः सा शुद्धिः शम्भुदर्शने।

न शुचिर्ह्यशुचिस्तस्मान्निर्विकल्पः सुखी भवेत॥१२३॥

सीमित समझ वाले लोगों द्वारा अनुसंशित शुचिता शैव दर्शन की दृष्टि में मात्र अशुचि ही है। यह शुद्धता नहीं वरन अशुद्धि ही है। जिसने विकल्पों से मुक्ति पा ली वही सुखी है।

टिप्पणियां: - छंद में जिस शुचिता को हेय बताया गया है वह उस शुचिता की बात है जो मात्र शरीर को ध्यान में रख कर अनुसंशित है। शैव दर्शन से तात्पर्य त्रिक दर्शन से है। यह दर्शन बाह्य शुद्धि को प्राथमिकता नही देता। यह छंद भौतिक स्वस्च्छता के विरुद्ध नहीं है, बाहरी स्वच्छता उचित है लेकिन विकल्पों पर निर्भर है अतः लक्ष्य मात्र बाहरी स्वच्छता तक सीमित न हो कर अभेद दृष्टि का होना चाहिए जिसे पा कर साधक नित्यानंद प्राप्त कर लेता है। यह आतंरिक शुद्धि ही वास्तविक शुचिता है, आध्यात्मिक दृष्टि से मात्र बाहरी शुचिता का लक्ष्य तथा आतंरिक एवं नैतिक शुचिता की उपेक्षा अशुचि ही है।

स्वामी लक्ष्मणजू के अनुसार छंद की द्वितीय पंक्ति इस तरह होना चाहिए: -

.....न शुचिर्नाशुचिस्तस्मान्निर्विकल्पः सुखी भवेत॥

सीमित समझ के लोगों द्वारा जिसे शुचिता माना जाता है, त्रिक दर्शन उसे न तो शुचि मानता है न ही अशुचि वरन जो विकल्पों से ऊपर उठ गया है वही सुखी है।

वास्तविक शुद्धि शरीर की नहीं होती, यह तो विकल्पों से ऊपर उठने तथा सर्वोच्च अहंता से एक होने से होती है। यह शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक ९९

सर्वत्र भैरवो भावः सामान्येष्वपि गोचरः।

न च तद्व्यतिरेकेण परोऽस्तीत्यद्वया गतिः॥१२४॥

भैरव का सत्य सर्वत्र प्रकट है, विवेकहीन साधारण मनुष्य में भी। जो ऐसा जानता है कि उस (भैरव) के सिवा और कुछ नहीं है, वह भैरव से अभिन्नता को प्राप्त होता है।

टिप्पणियां: - इस धारणा में किसी ध्यान के अभ्यास की जरूरत नही है। भैरव उसके लिए सर्वकालिक सत्य हैं जो निम्न दो बिन्दुओं पर दृढ़ निश्चयात्मक बुद्धि रख सकता है।

१. सभी मनुष्य सर्वनाम मैं का उपयोग करते हैं, मुर्ख भी "मैं" के प्रति जागरूक रहता है। जैसा कि महार्थमञ्जरी में दर्शाया गया है -

महार्थ मंजरी छंद ४

यं जानन्ति जड़ा अपि जलहार्योऽपि यं विजानन्ति।

यस्यैव नमस्कारः स कस्य स्फुटो न भवति कुलनाथः॥

"जिसे मूर्ख भी जानता है, जिसे एक जलपात्र भी जानता है, जिस अकेले के प्रति सब सर झुकाते हैं, जो शक्ति का स्वामी है - ऐसा कौन है जिसके प्रति वह प्रकट नहीं है?"

सर्वजन उसे कैसे जानते हैं? हरेक व्यक्ति उसे स्वयं के अस्तित्व के रूप में जनता है। यह जानकारी सब में एक जैसी है। प्रत्येक व्यक्ति चाहे-अनचाहे देहाहंकार को दर्शाने के लिए "मैं" का उपयोग करते हैं - यह मैं वही सनातन मैं है जो प्रत्येक व्यक्ति में जीवंत है। यही सनातन अहंता विज्ञान या चिदानंद है। यही भैरव है। अतः वह सबके द्वारा भीतरी तौर पर "स्वयं" की तरह जाना जाता है।

वह बाहरी तौर पर भी प्रकट सृष्टि के रूप में सभी के द्वारा जाना जाता है। जो भैरव को बाहरी एवं भीतरी तौर पर याने दोनों तरह से जानता है उसे बोध हो जाता है कि भैरव के सिवा और कुछ नहीं है। ऐसा योगी ईश्वरीय खुमारी से भर जाता है। उसके लिए भैरव सर्वव्यापक सार्वभौम सत्य है। वह स्वयं के सत्य को जान कर भैरव से अभिन्न हो जाता है तथा सतत आनंद को प्राप्त करता है। यह **अनुपाय** है।

धारणा क्रमांक १००

समः शत्रौ च मित्रे च समो मानावमानयोः।

ब्रह्मणः परिपूर्णत्वादिति ज्ञात्वा सुखी भवेत्॥१२५॥

यह जान कर कि सब कुछ ब्रह्म ही है, जो मेरी आत्मा है, साधक मित्र एवं शत्रु में, मान एवं अपमान में समभाव रखता है। यह दृढ करके कि ब्रह्म सर्वत्र है, वह सतत आनंद में रहता है।

टिप्पणियां: - ब्रह्म की सर्वव्यापकता के प्रति दृढ़ बुद्धि से साधक की दृष्टि में समता आ जाती है। वह सब के प्रति सद्भाव रखता है। मान एवं अपमान में वह एक समान (आनंद में) रहता है। श्रीमद्भागवद्गीता में भी यही बात बताई गयी है (अध्याय ५ / १८, १४ / २५)। यह शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक १०१

न द्वेषं भावयेत्क्वापि न रागं भावयेत्क्वचित्।

रागद्वेषविनिर्मुक्तौ मध्ये ब्रह्म प्रसर्पति॥१२६॥

साधक न किसी से द्वेष रखे न किसी से मोह रखे। राग द्वेष से मुक्त हो कर ही साधक के हृदय में ब्रह्मभाव विकसित होता है।

टिप्पणियां: - धारणा १०० तथा १०१ दोनों में मुख्य बात समता के प्रति जागरूकता की है। दोनों धारणाओं में एक ही अंतर है। धारणा १०० में साधक धनात्मक रूप से ब्रह्म की सर्वत्र उपस्थिति पर ध्यान करता है जबकि धारणा १०१ में समता का भाव विकसित करने हेतु साधक द्वेष एवं मोह को त्यागता है, तब समता स्वयमेव प्रकट हो जाती है। यह धारणा भी शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक १०२

यदवेद्यं यदग्राह्यं यच्छून्यं यदभावगम्।

तत्सर्वं भैरवं भाव्यं तदन्ते बोधसंभवः॥१२७॥

जो वस्तु की तरह नहीं जाना जा सकता, जो दुर्ग्राह्य है, जो शून्यरूप है, जो अस्तित्वहीन में भी व्याप्त है उसे ही भैरव जान कर ध्यान करो। इस ध्यान के द्वारा बोध प्राप्त हो जाएगा।

टिप्पणियां: - १. निरपेक्ष सत्य अवैद्य (न जाना जा सकने वाला) कहा जाता है क्यूंकि यह सनातन प्रमाता (जानने वाला) है जिसे वस्तु के रूप में सीमित नही किया जा सकता। २. शिवोपाध्याय अपनी विवृत्ति में यह बताने के लिए कि त्रिक दर्शन में शून्य का क्या तात्पर्य है, निम्न श्लोक को उद्धृत करते हैं,

सर्वालंबनधर्मैश्च सर्वतत्त्वैरशेषतः।

सर्वक्लेशाशयैः शून्यं न शून्यं परमार्थतः॥

जो समस्त आलंबनों से, समस्त तत्त्वों से एवं समस्त क्लेशों से मुक्त है वही शून्य है। परमार्थतः वह शून्य (खाली) नहीं है।

आलंबन का मतलब है सहारा। सहारा एक वस्तु, एक रंग या एक अनुभूति जैसे सुख दुःख आदि का हो सकता है। उसे शून्य इस अर्थ में कहा जाता है कि वह इन प्रमेय प्रमातृ के अभिलक्षणों से सीमित नहीं किया जा सकता। वह सभी तत्त्वों से मुक्त है क्योंकि सारे तत्त्वों की सीमा है और सारे तत्त्व उसी से अपना अस्तित्व प्राप्त करते हैं। यही कारण है कि तत्त्वों के लक्षणों से उसे अभिलक्षित नहीं किया जा सकता। वह सभी क्लेशों से मुक्त है। क्लेश अविद्या हैं या अदि अज्ञान है। अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश (म्रत्यु का भय, जीवन की विशेष अवस्थाओं से मोह) ये क्लेश कहलाते हैं।

सर्वोच्च सत्य को शून्य कहा जाता है क्योंकि वह इन सब से मुक्त है। यहाँ शून्य का मतलब अस्तित्वहीन नहीं है। सारे अस्तित्वगत एवं अस्तित्वहीन का स्रोत वही सर्वोच्च सत्य है। यह अस्तित्व एवं अस्तित्वहीन दोनों का आधार है। शिवोपाध्याय वर्तमान सन्दर्भ में महार्थमंजरी का एक छंद (छंद क्रमांक ३२) उद्धृत करते हैं -

कः सद्भावविशेषः कुसुमाद्भवति गगनकुसुमस्य।

यत्स्फुरणानुप्राणो लोकः स्फुरणं च सर्वसामान्यम्॥

एक पुष्प (एक प्रमेयात्मक भौतिक सत्य) एवं एक आकाशकुसुम (असंभव, कल्पना, अथवा अस्तित्वहीन) में क्या अंतर है? सृष्टि अपने अस्तित्व के लिए रचनात्मक दिव्य स्पंद पर आधारित है और यह अस्तित्वगत एवं अस्तित्वहीन दोनों का समान स्रोत है।

स्वातंत्र्य शक्ति जो स्फुरत्ता या महासत्ता कही जाती है वही सर्वत्र व्याप्त है और वही कुसुम एवं आकाशकुसुम दोनों का आधार है। उत्पलदेव के शब्दों में: -

सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकाल विशेषिणि।

सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः॥

यह चैतन्य की शक्ति आंतरिक रचनात्मक स्पंद है जो स्वयं अपरिवर्तनशील हो कर भी सारे परिवर्तन का स्रोत है। यही महासत्ता है, निरपेक्ष अस्तित्व है जो कोई भी रूप ग्रहण करने में सक्षम है। यह अस्तित्व एवं अस्तित्वहीन (भाव एवं आभाव) दोनों का स्रोत है। यह समय एवं अन्तरिक्ष की सीमाओं से परे है। यह समस्त अभिव्यक्ति का सार परमसत्ता का हृदय है।

अभिनव गुप्त की व्याख्या बोधपरख है: -

सत्ता च भवनकर्तृता सर्वक्रियासु स्वातन्त्र्यम्। सा च खपुष्पादिकमपि व्याप्नोति इति महती।

इस सन्दर्भ में शब्द 'सत्ता' तकनीकी रूप से उपयोग किया गया है। इसका मतलब मात्र अस्तित्व नहीं है। यहाँ इसका तात्पर्य है "कारण का अनिवार्य स्वरुप" जो पूर्ण स्वातंत्र्य का स्वामी है, यही महासत्ता है क्योंकि यह आकाशकुसुम (काल्पनिक या अस्तित्वहीन) में भी व्याप्त है।

इसलिय यह धारणा समझाती है कि साधक को भैरव पर ऐसे ध्यान करना चाहिए कि भैरव किसी भी विचार, कल्पना या रूप से परे है तथा महासत्ता के रूप वह आधारभूत चेतना है। भैरव का अनिवार्य स्वरूप महासत्ता है जो पूर्ण स्वातंत्र्य है, जो किसी भी रूप में प्रकट होने में सक्षम है। ऐसा ध्यान करने वाला साधक पूर्ण बोध प्राप्त कर लेता है। यह शाम्भवोपाय है।

धारणा क्रमांक १०३

नित्ये निराश्रये शून्ये व्यापके कलनोज्झिते।

बह्याकाशे मनःकृत्वा निराकाशं समाविशेत्॥१२८॥

साधक को बाहरी आकाश पर मन स्थिर करना चाहिए जो सनातन है, बिना सहारे के स्थित है, शून्यरूप है, सर्वव्यापक एवं असीम है। ऐसे ध्यान से साधक निरक्ष में समाविष्ट हो जाता है।

टिप्पणियां: - इस धारणा में दो बिन्दुओं पर जोर दिया गया है। १. चूंकि पूर्णसत्य पर ध्यान करना आसान नहीं है, साधक को असीम गगन पर ध्यान करने की सलाह दी गयी है। ख या गगन को सामान्यतः शून्य का प्रतीक मन जाता है। आकाश को शुद्धता, ब्रह्म तथा असीम का प्रतीक भी माना जाता है। इसलिए बाह्य आकाश पर सतत ध्यान के अभ्यास से साधक निराश्रित, लक्ष्यहीन, शून्यरूप सत्य पर ध्यान करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। इसके बाद स्वयं की सुविधा से साधक आंतरिक सत्य चेतना का भैरव रूप में ध्यान कर सकता है जो (भैरव) समय, अन्तरिक्ष या अनुभव (सामान्य बुद्धि) को अतिक्रांत कर जाता है। २. पूर्ववर्ती धारणा में भैरव को शून्य या शून्यधाम (शून्य का आश्रय स्थान) कहा गया था। वर्तमान धारणा ने उसे अशून्य या अतिशून्य (निराकाश) निरूपित किया गया है। इस तरह वह शून्य का आधार हो कर महासत्ता या महासामान्य कहलाता है। यह शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक १०४

यत्र यत्र मनो याति तत्तत्तेनैव तत्क्षणम्।

परित्यज्यानवस्थित्या निस्तरङ्गस्ततो भवेत्॥१२९॥

मन जहाँ कहीं भी जाता है उसे तत्क्षण वहाँ से हटा लें। इस तरह से मन को कहीं भी (किसी भी प्रमेय पर) लिप्त न होने दें। मन को आधारहीन बनाने से मन की अस्थिरता शांत हो जाती है।

टिप्पणियां: - मन की चंचलता वैराग्य एवं अभ्यास से दूर की जा सकती है। वैराग्य ऋणात्मक विधि है एवं अभ्यास धनात्मक विधि है। दोनों का एकसाथ उपयोग करना चाहिए। वैराग्य में प्रमेयों से ध्यान हटाया जाता है। अभ्यास में लक्ष्य पर ध्यान किया जाता है। भगवद्गीता में कहा गया है: -

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।

ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ *(६ / २६)*

"जिधर भी चंचल मन गति करता है, उसे वहां जाने से रोक लेना चाहिए तथा अपने नियंत्रण में कर लेना चाहिए।" यह शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक १०५

भया सर्वंरवयति सर्वदो व्यापकोऽखिले।

इति भैरवशब्दस्य सन्ततोच्चारणाच्छिव॥१३०॥

भैरव वह है जो अपनी उज्ज्वल चेतना को क्रियाशक्ति से मिला कर सारे ब्रह्माण्ड को हलचल से गुंजा देता है। वह सबकुछ प्रदान करता है, वाही सर्वव्यापक है। इसलिए भैरव का जाप करने से साधक शिव हो जाता है।

टिप्पणियां: - त्रिक दर्शन में शब्द भैरव की व्युत्पत्ति विभिन्न तरीकों से बताई गयी है। कुछ महत्वपूर्ण व्याख्याएं इस तरह है - यह शब्द चार अक्षरों से मिल कर बना है भा + ऐ + र + व । भा + ऐ संधि के बाद "भै" हो जाते हैं। इस तरह शब्द भैरव बनता है। प्रत्येक अक्षर का एक तात्पर्य है जो इस तरह है - "भा" अपने आप में एक शब्द है जिसका मतलब प्रकाश है। यहाँ तात्पर्य चेतना के प्रकाश से है। "ऐ" त्रिकदर्शन के अनुसार क्रियाशक्ति का प्रतीक है। र व का तात्पर्य रवयति से है जिसका वर्तमान सन्दर्भ में मतलब "विमर्शति" है। विमर्श का मतलब है समझना, ज्ञान ग्रहण करना, आत्मावलोकन करना या अपनी शक्ति को तौलना। अतः इस व्युत्पत्ति के द्वारा भैरव का मतलब होगा "वह जिसकी चेतना का प्रकाश स्वयं की क्रियाशक्ति से मिल कर समस्त सृष्टि को अपने स्व की तरह जानता है"।

परात्रिन्शिका में अभिनवगुप्त भैरव की अन्य व्याख्या करते हैं -

"भैरवो भरणात्मको महामंत्ररवात्मकश्च"

भैरव वह है जो सारी सृष्टि का आधार है तथा महामंत्र "अहम्" का सतत जाप करता है।

तन्त्रालोक में अभिनवगुप्त "भैरव" के कई अर्थ देते हैं - इनमे निम्नलिखित तीन महत्वपूर्ण हैं -

१. वह सृष्टि को स्वयं पर निर्मित कर उसको धारण करता है तथा उसका पोषण करता है। वह स्वयं सृष्टि के रूप में प्रकट है। "भ्रियते सविमर्शतया" यह व्युत्पत्ति मूल "भृ" पर आधारित है, जिसका मतलब धारण तथा पोषण दोनों है।

२. वह स्वयं अहम् मंत्र का सतत जाप करता है - "रवरूपतश्च"।

३. जो जन्म मृत्यु के चक्र से भयभीत हैं उन्हें अभय प्रदान करता है - "संसारभीरु हितकृत"।

भैरव का प्रत्येक अक्षर तीन मुख्य कार्यों को प्रकट करता है। भ से भरण अथवा पोषण प्रकट होता है, र से रवण याने सृष्टि को पुनः समेट कर स्वयं में विलीन करना तथा व से वमन अर्थात् सृष्टि का प्रक्षेपण।

भैरव के दो विशेषण हैं सर्वदः एवं व्यापकः। इनका सम्बन्ध भी दो अक्षरों से है - र एवं व । र मूल रा से सम्बन्ध रखता है, जिसका मतलब देनें से है। वह सर्वदः कहलाता है क्योंकि वही सबका स्रोत है। इसी तरह अक्षर व मूल वा से सम्बन्ध रखता है जिसका मतलब व्यापक होने या फ़ैल जाने से है।

यहाँ यह समझना आवश्यक है कि छंद में आये शब्द 'उच्चार' का तात्पर्य भैरव शब्द को मात्र रटने से नहीं है। उच्चार का तात्पर्य प्राणशक्ति के उच्चार से है जो (संविद) की प्रतिनिधि है। यह प्राणशक्ति केंद्र से उठती है तथा सुषुम्ना से हो कर द्वादशान्त (ब्रह्मरंध्र) तक पहुँच कर प्रकाश या भैरव से मिल जाती है। यह धारणा शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक १०६

अहम् ममेदमित्यादि प्रतिपत्ति प्रसङ्गतः।

निराधारे मनोयाति तद्ध्यान प्रेरणाच्छमी॥१०६॥

जब कहते हैं - मैं हूँ, यह मेरा है - यह विचार वहां ले जाता है जो आधारहीन है। 'उस' (तत्) पर ध्यान की प्रबल प्रेरणा से साधक को स्थायी शांति प्राप्त होती है।

टिप्पणियां: - पूर्णाहं (निरपेक्ष अहंता) निराधार होती है जो निर्विकल्प है। जब व्यक्ति सीमित अहंता को आत्मा जानता है तब भी निर्विकल्प शुद्ध अहंता उसके पीछे खड़ी होती है। यह निर्विकल्प अहंता अज्ञानी अथवा ज्ञानी दोनों में समान रूप से होती है। अतः जब मिथ्या अहंता को व्यक्ति आत्मा जनता है तब भी अनजाने ही वह निरपेक्ष अहंता को प्रतिबिंबित करता है जो उसके मनोवैज्ञानिक मैं के पीछे स्पंदित हो रही है। वर्तमान धारणा उस निरपेक्ष अहंता को ध्यान में स्पष्ट करना सिखाती है। तदन्तर वह (साधक) रचनात्मक चिंतन (भावना) के द्वारा (तद्ध्यानप्रेरणात्) सविकल्प मन को निर्विकल्प स्थिति तक ले जाता है तथा निरपेक्ष आनंद को प्राप्त करता है।

यहाँ ध्यान से तात्पर्य भावना से है। शाक्तोपाय से एक शुद्ध विकल्प आगे चल कर निर्विकल्प में समाप्त होता है जो भैरव का अनिवार्य स्वरूप है। तत् का यहाँ तात्पर्य निराधार से है। यह धारणा समझाती है कि साधक को निराधार की सतत भावना आत्मा की तरह करनी चाहिए। निश्चय ही यह भी एक विकल्प है लेकिन यह एक शुद्ध विकल्प है जो शाक्त भावना के द्वारा अन्ततः निर्विकल्प में समाप्त होगा।

तन्त्रालोक प्रथम आहनिक के छंद २१४-२१५ में अभिनवगुप्त बताते हैं कि कैसे सविकल्प अन्ततः निर्विकल्प में बदल जाता है -

शाक्तोऽथ भण्यते चेतो धीमनोहंकृतिस्फुटम्।

सविकल्पतया मायामयमिच्छादि वस्तुतः॥२१४॥

अभिमानेन संकल्पाध्यवसायक्रमेण यः।

शाक्तः स मायोपायोऽपि तदन्ते निर्विकल्पः॥२१५॥

अनुभवकर्ता सीमित व्यक्ति की चेतना (व्यष्टि चेतना) मन, बुद्धि एवं अहंकार द्वारा सीमित होती है। हालाकि यह क्रिया माया के आधीन विचारों के द्वारा संपन्न होती है जिसका मुख्य अभिलक्षण 'भिन्नता' है तथापि यह इच्छा आदि के द्वारा प्रेरित होती है। यदि व्यष्टि की सीमित अहंता (अहंकृति, अभिमान) एक विकल्प को चुनती है जैसे "मैं सर्वव्यापक हूँ सबकुछ मुझमें ही है" तब सतत प्रतिबद्धता से (अध्यवसायक्रमेण), जो बुद्धि का कार्य है, उसके विकल्प जो चाहे माया के आधीन हों, धीरे धीरे निर्विकल्पावस्था में पहुँच कर समाप्त हो जाते हैं। यह धारणा शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक १०७

नित्यो विभुर्निराधारो व्यपकश्चाखिलाधिपः।

शब्दान् प्रतिक्षणं ध्यायन् कृतार्क्षोऽर्थानुरूपतः॥१३२॥

"सनातन, सर्वव्यापी, निराधार, सर्वत्र उपस्थित, सृष्टि का स्वामी" इन शब्दों का सतत ध्यान कर इनके अर्थ को पुष्ट करते जाने से व्यक्ति परमार्थ को पा कर कृतकृत्य हो जाता है।

टिप्पणियां: - इन शब्दों के प्रयोजनों पर सतत मनन करने से साधक का मन परम सत्य के स्वरूप से भर जाता है। 'नित्य' एवं 'विभु' के भावों को आत्मसात करने से साधक को बोध हो जाता है कि भैरव का अनिवार्य स्वरूप तथा साधक की स्वयं की आत्मा का अनिवार्य स्वरूप समय की सीमाओं से परे (अकाल, सनातन) है। 'व्यापक' शब्द के भाव को आत्मसात करने से उसे अन्तरिक्ष से परे होने का बोध भी हो जाता है। 'निराधार' शब्द पर चिंतन करने से साधक को बोध हो जाता है कि भैरव एवं उसकी स्वयं की आत्मा भी निर्विकल्प याने विकल्पों से परे है।

इस तरह से इन शब्दों पर ध्यान करने से उसे भैरव के अनिवार्य स्वरूप का बोध तो होता ही है साथ ही उसे स्वयं की आत्मा एवं भैरव में अभेद का बोध भी हो जाता है। ऐसा होने से वह कृतार्थ हो जाता है, उसके जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य पूर्ण हो जाता है। यह धारणा शाक्तोपाय के अंतर्गत है।

धारणा क्रमांक १०८

अतत्त्वमिन्द्रजालाभमिदं सर्वमवस्थितम्।

किं तत्त्वमिन्द्रजालस्य इति दार्ढ्याच्छमं व्रजेत्॥१३३॥

धारणा क्रमांक १०९

आत्मनो निर्विकारस्य क्व ज्ञानं क्व च वा क्रिया।

ज्ञानायत्ता बहिर्भावा अतः शून्यमिदं जगत्॥१३४॥

छंद १३३ - सारी सृष्टि की दिखाई देने वाली स्थिति इंद्रजाल (जादू के दृश्य) की तरह सत्य से परे है। इंद्रजाल के भ्रम उत्पन्न करने वाले द्रश्य की सत्यता क्या हो सकती है। अगर साधक दृढ़ता से यह जनता है कि दिखाई देने वाला दृश्य सत्य से परे है तो वह शान्ति प्राप्त करता है।

छंद १३४ - आत्मा निर्विकार है याने उसमे कोई परिवर्तन संभव नहीं है, तो वहां ज्ञान एवं क्रिया कैसे हो सकते हैं? बाहर के सारे प्रमेय ज्ञान पर आधारित हैं अतः जगत् शून्य रूप है।

टिप्पणियां: - (धारणा १०८ एवं १०९ पर) - दोनों धारणाएं संसार की अवास्तविकता बतलाती हैं। प्रथम धारणा (१०८) कहती है कि यह सृष्टि जादू के प्रदर्शन की तरह है अतः दिखने वाला दृश्य सत्य नहीं है। दूसरी धारणा (१०९) कहती है कि सृष्टि ज्ञान एवं क्रिया पर निर्भरता के कारण असत्य है।

आत्मा शुद्धतम चेतना है जो अविभाज्य है और उसमे कोई भिन्नता नहीं है। इसमें कोई परिवर्तन संभव नहीं है। ज्ञान एवं क्रिया परिवर्तन का प्रकार ही है। इसलिए ज्ञान एवं क्रिया आत्मा में संभव नहीं हैं। सारे संसार के प्रमेय ज्ञान एवं क्रिया पर निर्भर हैं। चूंकि ज्ञान एवं क्रिया अवास्तविक हैं, अतः संसार, जो इन पर निर्भर है, वह भी अवास्तविक है। संसार शून्य है ऐसा ध्यान करने से साधक को शांति प्राप्त होती है।

यहाँ यह समझना आवश्यक है कि इस छंद में जिस ज्ञान एवं क्रिया की बात की गयी है वह सीमित व्यक्ति की ज्ञान एवं क्रियाएँ हैं जो भेददृष्टि एवं परिवर्तनशील संसार पर आधारित हैं।

आत्मा के अनिवार्य स्वरूप में किसी भी तरह का परिवर्तन संभव नहीं है। अतः व्यष्टि की ज्ञान एवं क्रियाएँ मनोभौतिक आत्मा (आत्मा चित्तम्) पर आधारित हैं। अनिवार्य सत्य (सार्वभौम चेतना) की ज्ञान एवं क्रिया, जो परम सत्य के अभिलक्षण हैं, शक्तियां हैं - ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति। इन शक्तियों मात्र के द्वारा निरपेक्ष रूप से कोई भी ज्ञान या क्रिया संभव है। ये शक्तियां अंतःकरण, ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों पर निर्भर नही हैं जबकि अनुभवकर्ता व्यष्टि के ज्ञान एवं क्रियाएँ इन पर पूरी तरह आश्रित हैं। सार्वभौम चेतना की ज्ञान एवं क्रिया शक्तियां किसी भी भिन्नता के भाव से प्रेरित नहीं होतीं हैं। ये दोनों धारणाएं शाक्तोपाय हैं।

धारणा क्रमांक ११०

न मे बन्धो न मोक्षो मे भीतस्यैता विभीषिकाः।

प्रतिबिम्बमिदं बुद्धेर्जलेष्विव विवस्वतः॥१३५॥

मेरे लिए न बंधन है न मोक्ष है। ये (बंधन एवं मोक्ष) मात्र उनके लिए हैं जो स्वयं की आत्मा के गौरव से अनजान हैं। यह विश्व बुद्धि में होने वाले प्रतिबिम्ब की तरह है जैसे जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है।

टिप्पणियां: - आत्मा शुद्ध चेतना (चिन्मात्र) है। यह अन्तरिक्ष एवं समय द्वारा सीमित नहीं है। बंधन एवं मोक्ष का प्रश्न उसी सत्ता के लिए उठ सकता है जो समय एवं अन्तरिक्ष के द्वारा सीमित है।

जैसे जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब उल्टा दिखाई देता है वैसे ही यह सीमित बुद्धि (जिसमे आत्मा प्रतिबिंबित होती है) स्वयं को आत्मा समझ बंधन या मोक्ष का भेद करती है। ये बंधन एवं मोक्ष बुद्धि की कल्पनोक संरचनाएं हैं। आत्मा जो अनिवार्यतः शुद्ध चेतना है, इन काल्पनिक संरचनाओं से परे है।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शनी में अभिनवगुप्त इस पर प्रकाश डालते हैं -

"तत्र स्वसृष्टेदंभागे बुध्द्यादिग्राहकात्मना।

अहंकारपरामर्शपदं नीतमनेन तत्॥"

(ई. प्र. वि. ४ / १-२)

"परशिव स्वचेतना के प्रकाश में, स्वनिर्मित सृष्टि में, बुद्धि को बनाते हैं जो छद्म अहंता का कार्य कर सीमित जीव निर्मित करती है।"

अभिनवगुप्त आगे व्याख्या करते हैं: -

स्वात्मा में स्थित महेश्वर, स्वात्मा के स्वच्छ दर्पण में , स्वयं के निरपेक्ष स्वातंत्र्य के द्वारा प्रमेय संसार को अभिव्यक्त करते हैं जो महेश्वर के अनिवार्य स्वरूप में ही सीमित होता है। इन संरचनाओं के मध्य ही प्राण, बुद्धि, शरीर आदि नाम के प्रमेय भी रचे जाते हैं। ये भी वस्तुएं हैं एवं इन्हें प्रमेय के सन्दर्भ में ही जानना चाहिए। लेकिन ये (प्राण, बुद्धि शरीर), इनसे अलग उपस्थित प्रमेयों के सापेक्ष, प्रमातृ की तरह कार्य कर सकते हैं। चूँकि ये प्रमेयता को पूरी तरह छोड़ नही सकते, इसलिए ये अपूर्ण एवं परप्रकाशित स्वात्मचेतना से चमकते हैं जैसे "मैं देवदत्त हूँ"।

जब साधक को पूर्ण विश्वास हो जाता है कि बन्शन एवं मोक्ष का प्रश्न मात्र मनोवैज्ञानिक आत्मा (स्व) के लिए ही उठता है आध्यात्मिक चेतना के लिए नही, तब साधक अनुभवकर्ता (मनोवैज्ञानिक स्व) के विकल्पों से ऊपर उठ कर भैरव के स्वरुप से एक हो जाता है।

स्वामी लक्ष्मणजू के अनुसार छंद में आये शब्द "भीतस्य" की जगह "जीवस्य" ज्यादा ठीक है क्योंकि बंधन एवं मोक्ष अनुभावक व्यक्ति (Emperical subject) के ही काल्पनिक भय हैं। यह धारणा शाम्भवोपाय है।

धारणा क्रमांक १११

इन्द्रियद्वारकं सर्वं सुखदुःखादिसङ्गमम्।

इतीन्द्रियाणि संत्यज्य स्वस्थः स्वात्मनि वर्तते॥१३६॥

(यह जान कर कि) सुख एवं दुःख से संपर्क इन्द्रियों के माध्यम से ही होता है, साधक को चाहिए कि वह स्वयं को इन्द्रियों से प्रथक कर ले। इस तरह स्वयं को समेट कर स्वयं की अनिवार्य आत्मा में स्थित हो जाये।

टिप्पणियां: - सारे सुख एवं दुःख, जो इन्द्रियों के द्वारा परोसे जाते हैं, चिदात्मा (अनिवार्य आध्यात्मिक आत्मा) के अभिलक्षण नहीं हैं वरन मात्र मनोवैज्ञानिक संरचना के हैं जो अज्ञानतावश आत्मा समझ ली जाती है। जब कोई अपनी अनिवार्य आत्मा के केंद्र में स्थित होता है तब वह इन्द्रियों की बाध्यकारी मांगों से मुक्त हो जाता है।

पूर्ववर्ती धारणा बताती है कि व्यक्ति को बुद्धि के स्तर से ऊपर उठ कर अपनी अनिवार्य चेतना (आत्मा) में स्थित होना चाहिए। वर्तमान धारणा समझाती है कि हमें इन्द्रियों की गतिविधियों से भी स्वयं को अलग कर लेना चाहिए जो बाहरी संसार की ओर ले जाती हैं। ऐसा करने के लिए साधक को "शक्ति संकोच" का सहारा लेना चाहिए जो "प्रत्यभिज्ञाहृदय" में परिभाषित है: -

"शक्तेः संकोचः इन्द्रियद्वारेण प्रसरन्त्या एव आकुंचन क्रमेण उन्मुखीकरणं"

शक्ति संकोच का तात्पर्य अपनी अनिवार्य आत्मा की ओर भीतर मुड़ जाना है। इसके लिए चेतना के उस प्रवाह को रोकना होता है जो इन्द्रियों के द्वारों से प्रमेय संसार में प्रवाहित हो रही है। शक्ति संकोच अंतर्मुखी होने की कला है। इसके द्वारा व्यक्ति स्वस्थ हो जाता है याने स्वयं की चेतना से स्वयं को जानता है। ऐसे में सांसारिक आकर्षण उसे कष्ट देना बंदकर देते हैं, उसका सुख दुःख के बीच झूलना बंद हो जाता है तथा स्वचेतना में ठहर कर भैरव भाव से एक हो जाता है। योग वाशिष्ट के शब्दों में: -

"एते हि चिद्विलासान्ता मनोबुद्धीन्द्रियादयः"

चित् (अनिवार्य चेतना) के प्रकट होने पर मन बुद्धि एवं इन्द्रियों की स्वच्छंद गतिविधियाँ शांत हो जाती हैं। यह शाक्तोपाय है।

धारणा क्रमांक ११२

ज्ञानप्रकाशकं सर्वं सर्वेणात्मा प्रकाशकः।

एकमेक स्वभावत्वात् ज्ञानं ज्ञेयं विभाव्यते॥१३७॥

सारी सृष्टि ज्ञान (आत्मा के ज्ञान) से प्रकट होती है तथा आत्मा सारी सृष्टि के द्वारा प्रकट होती है। दोनों के स्वाभाव एक ही हैं अतः साधक को ज्ञाता (ज्ञान) तथा ज्ञेय के अभेद पर ध्यान करना चाहिए।

टिप्पणियां: - सारी वस्तुएं ज्ञान से अभिव्यक्त होती हैं। यहाँ ज्ञान से तात्पर्य ज्ञाता से है। अतः छंद का मतलब है कि समस्त ज्ञात वस्तुएं ज्ञाता से प्रकट होती हैं तथा ज्ञात (सृष्टि) से आत्मा प्रकट होती है। उच्छुष्मभैरव में कहा गया है: -

"यावन्न वेदका एते तावद्वेद्याः कथं प्रिये।वेदकं वेद्यमेकं तु तत्त्वं नास्त्यशुचिस्ततः॥"

हे प्रिये, जब तक ज्ञाता नहीं है तब तक ज्ञातव्य (वस्तुएं आदि) कैसे हो सकते हैं? ज्ञाता एवं ज्ञात मूलतः एक ही तत्त्व हैं अतः परमार्थतः कुछ भी जड़ अथवा अशुद्ध नहीं है।

जब साधक दृढ़ता एवं गंभीरता से इस तथ्य पर ध्यान करता है तब वह शिवस्वरूप से एक हो जाता है।

शिवोपाध्याय एक अन्य छंद उद्धृत करते हैं जिससे वर्तमान धारणा और पुष्ट होती है: -

प्रकाशमानं न पृथक् प्रकाशात्स च प्रकाशो न पृथग् विमर्शात्।

नान्यो विमर्शोऽहमिति स्वरूपाद् अहं विमर्शोऽस्मि चिदेकरूपः॥

सारी अभिव्यक्ति चेतना के प्रकाश से भिन्न नहीं है। चेतना का प्रकाश कभी भी अहम् विमर्श से भिन्न नहीं है। यह अहम् विमर्श आत्मा से अलग कुछ नहीं है और यह आत्मा ही शुद्ध चेतना 'चित्' है। अतः इस तथ्य पर ध्यान (कि प्रमेय. प्रमातृ एवं चित् एक ही सत्य हैं) करने से साधक को भैरवस्थिति प्राप्त हो जाती है। यह शाक्तोपाय है।

स्वामी लक्ष्मणजू के अनुसार शैव परंपरा में एक पाठभेद भी प्रचलित है: -

ज्ञानं प्रकाशकं लोके आत्मा चैव प्रकाशकः।अनयोर अपृथग्भावात् ज्ञानेज्ञानी विभाव्यते॥

संसार में ज्ञान के द्वारा वस्तुएं प्रकट होती हैं तथा सारे प्राकट्य का स्रोत आत्मा है। जब आत्मा एवं ज्ञान में कोई भेद नहीं है तो ज्ञानी ज्ञान में प्रकट होता है।